प्रकाशक व प्राप्ति-स्थान

१. श्री घेवरचद जैन, मंत्री
श्रीमद् राजचंद्र आश्रम
रत्नकूट, हम्पी-५८३२३९
पो० कमलापुरम्
रेलवे स्टेशन-हॉस्पेट
जिला वेल्लारी (कर्नाटक)

Shrimad Rajchandra Ashram
Ratna Koot, Hampi-583239
Rly. Station Hospet, Dist. Bellary (Karnataka)

२. देवेन्द्रराज मेहता, सचिव
प्राकृत भारती अकादमी
३८२६, यति श्यामलालजी का उपाश्रय
मोतीसिंह भोमियो का रास्ता
जयपुर-३०२००३ (राजस्थान)

३. भँवरलाल नाहटा
४, जगमोहन मल्लिक लेन
कलकत्ता-७००००७

प्रथम संस्करण—१९८९

मूल्य : तीस रुपये

मुद्रक :
राज प्रोसेस प्रिन्टर्स
८ व्रजदुलाल स्टीट्र
कलकत्ता-७००००६

प्रकाशकीय

परम अवधूत योगिराज आनन्दघनजी रचित चौबीस तीर्थंकरों के स्तवन एव पदो का न केवल जैन अपितु भारतीय समाज में आंज तक एक विशिष्ट स्थान रहा है। मुमुक्षु एव साधको के हृदय को झंकृत करने वाले और आत्मानुभूति की ओर बढाने वाले होने से मानस को भक्ति रस से आप्लावित कर देते है। भेद-विज्ञान को प्रदर्शित करने वाले एव परपरावाद से मुक्त होने के कारण ये स्तवन प्रभु से तन्मयता और देह से अनासक्ति भाव भी बढ़ाने वाले है।

आनन्दघनजी के स्तवनो और पदो की भाषा को देखते हुए यह स्पष्टतः सिद्ध है कि ये राजस्थान प्रदेश के ही थे। परम्परागत श्रुति के अनुसार इनका आवास स्थान भक्तिमति मीरा की नगरी मेडता ही था। इनका काल अनुमानतः वि० १६५० से १७३१ के मध्य का है। इनका दीक्षा नाम लाभानन्द था अतः इनकी दीक्षा खरतरगच्छीय आचार्य जिनराजसूरि के कर-कमलो से ही हुई होगी। उनका स्वग स्थान भी मेडता होने के कारण इनका चबूतरा और उपाश्रय भी मेडता मे ही माना जाता रहा है। इनके चबूतरे को ही आधार मानकर आचार्य श्रीविजयकलापूर्णसूरिजी महाराज मेडता में ही आनन्दघनजी का मंदिर बनवा रहे है, जिसका निर्माण कार्य अभी चल रहा है। परम्परा-वाद के दुराग्रह ने ही इनको अवधूत होने के लिये बाधित किया था। इसी का परिणाम था कि वे लाभानन्द न रह कर अतमुंखी बन गये और आनन्दघन के नाम से प्रसिद्ध हुवे। लाभानन्द से आनन्दघन बन-कर ये महायोगी-गच्छातीत, परम्परातीत, सप्रदायातीत होकर मात्र आत्मधर्मी रह गये। इसी कारण इनके स्तवन आज प्रत्येक परपरा द्वारा सादर समादृत एव स्वीकृत है।

इनकी चौबीसी पर तत्कालीन आचार्य ज्ञानविमलसूरि ने विक्रम स० १७६९ में बालावबोध अर्थात् भाषा-टीका की थी। तत्पश्चात् मस्तयोगी ज्ञानसारजी (समय १८०१ से १८९८) ने भी इस पर स्तबक (भाषा टीका) स० १८६६ कृष्णगढ मे लिखा। इन्ही दोनो टीकाओं का आधार लेकर बीसवी सदी के कर्णधार विद्वानो आचार्य

बुद्धिसागरसूरि, श्री मोतीचद गिरधर कापडिया आदि ने सांगोपाग गुजराती एव हिन्दी मे विवेचन भी लिखे। विस्तृत प्रस्तावनायें भी लिखी। इन सब विवेचनो का अवलोकन कर इस युग के परम योगी श्री सहजानन्दजी ने भी इन स्तवनों पर एक स्वतत्र विवेचन लिखा था। सहजानन्दजी भी मूलतः भद्रमुनिजी के नाम से खरतरगच्छ परंपरा के एक श्रमण थे। आत्मलक्षी बन जाने पर ये भी परम्परा से मुक्त होकर सहजानन्दघन बने थे। साधना की अवस्था में इन्होंने इन स्तवनो पर अनुभूति-परक चिन्तन किया और आत्मानुभूति से उन्होने इसपर विवेचन लिखा। दुर्भाग्य था कि यह चिन्तन-परक विवेचन पूर्ण नही कर पाये। सत्रह स्तवनो तक ही वे विवेचन लिख सके।

चिन्तन-पूर्वक लिखा गया यह विवेचन अपना एक वैशिष्टय पूर्ण स्थान रखता है। इसी विशिष्टता को ध्यान मे रख कर प्राकृत-भारती अकादमी और श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, हम्पी के सयुक्त प्रकाशन के रूप में यह प्रकाशित किया जा रहा है।

"गच्छनां भेद बहु नयण नीहालता, तत्त्व की वात करतां न लाजे।"

जैसी सूक्तियो का जब रसास्वादन करते है तो वहा आत्म-द्रष्टा बनने की ओर ही प्रवृत्ति जागृत होती है। आत्माभिमुखी बनते ही यह व्यावहारिक ससार, गच्छ, परम्परा से साधक दूर होता जाता है और तत्त्वचिन्तक बनकर रत्नत्रयो को आधार मानकर आत्म साधना की और प्रयाण करता है। पाठक भी इस स्तवनों का एव अनुभूति-परक विवेचन का तन्मयता से अध्ययन कर आत्मतत्व को पहचानने का प्रयत्न करें यही इस प्रकाशन का उद्देश्य है।

जैन एव राजस्थानी साहित्य के मूर्धन्य विद्वान् तथा भाषा लिपि के विशेषज्ञ श्री भवरलालजी नाहटा ने न केवल इस पुस्तक का सपादन कर अपितु विस्तृत प्रस्तावना लिखकर अनुगृहीत किया है अतः हम उनके आभारी है।

एस० पी० घेवरचद जैन	**म० विनयसागर**	**देवेन्द्रराज मेहता**
मेनेजिग ट्रस्टी	निदेशक	सचिव
श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम	**प्राकृत भारतीय अकादमी**	**प्राकृत भारती अकादमी**
हम्पी	जयपुर	जयपुर

परम अवधूत योगिराज श्री आनदघनजी महाराज

जन्म स्थान : मेडता महाप्रयाण : स० १७३१ मेडता

अवधूत योगीन्द्र श्री आनन्दघन

श्रीमद् आनन्दघनजी महाराज का न केवल जैन समाज मे ही अपितु भारतीय साहित्य मे मूर्धन्य स्थान है। वे उच्च कोटि के अध्यात्म तत्त्वज्ञ, निष्पृह साधक मस्त अवधूत योगी थे। वे उच्च कोटि के विद्वान, आत्मद्रष्टा और सम्प्रदायवाद से ऊँचे उठे हुए महापुरुष थे। उनकी रचनाएँ केवल चौवीसी, बहुत्तरी, कुछ पद एव फुटकर कृतियो के अतिरिक्त अधिक न होने पर भी अत्यन्त गम्भीर और गहरे आशय-वाली होने से तत्त्व चिन्तक को चिरकाल तक अध्ययन, मनन और आत्म विकास करने की सामग्री प्रस्तुत करती है।

श्रीमद् की रचनाओं पर गत ८० वर्षो में मूल और विवेचन सम्बन्धी पर्याप्त प्रकाशन हुए हैं और वे प्रकाशन उच्च कोटि के विद्वानो द्वारा गुजराती भाषा मे हुए हैं। हिन्दी भाषा और खरतरगच्छ में तो केवल एक ग्रन्थ श्री उमरावचन्दजी जरगड़ द्वारा तैयार होकर प्रकाशित हुआ। ये सभी प्रयत्न बीसवी शताब्दी के हैं। उनके सम-कालीन विद्वानो में सर्वप्रथम उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने लिखा था, वे स्वयं श्रीमद् के सम्पर्क में आये थे और उनकी प्रशसा में अष्टपदी की रचना की जो पर्याप्त प्रसिद्ध है। उपाध्यायजी महाराज समर्थ विद्वान और अजोड़ ग्रन्थकार थे। वे न्याय, तर्क, दर्शन आदि सभी विषयो के शताधिक ग्रन्थ रचयिता थे पर दुर्भाग्यवश उनके अधिकांश ग्रन्थ आज अलभ्य है। श्री आनन्दघनजी महाराज की स्तवन बावीसी पर बालावबोध रचने का नामोल्लेख मात्र मिलता है। यदि ग्रन्थ प्राप्त होता तो सोने मे सुगन्ध जैसा होता। दूसरे बालावबोधकार हैं श्री ज्ञानविमलसूरि। कहा जाता है कि वे उनके सम्पर्क मे आये थे और आनन्दघन पद सग्रह के अनुसार उनके स्तवनो की नकल स्वय उपाध्यायजी ने कराई थी। मेरे नम्र मतानुसार श्री ज्ञानविमलसूरि

आनन्दघनजी के सम्पर्क में आये होते या उपाध्याय श्री यशोविजयजी का बालावबोध भी देखा होता तो वे स्तवनों का विवेचन उच्च कोटि का करते। यह विवेचन उन्होने स० १७६९ में अर्थात् अपनी ७५ वर्ष की आयु मे आनन्दघनजी के निधन के ३८ वर्ष बाद मे किया। ज्ञानविमलसूरि का जन्म स० १६९४, दीक्षा स० १७०२ पन्यास पद स०१७२७ मे विजयप्रभसूरिजी द्वारा मिला। एव आचार्य पद १७४८ व स्वर्गवास १७८२ मे हुआ। यदि ये श्रीमद् आनन्दघनजी के सम्पर्क मे आये होते तो अपने बालावबोध के अन्त मे यह नही लिखते कि—"लाभानन्दजी कृत स्तवन एटला २२ दीसइ छइ, यद्यपि बीजा बे हस्ये तोही आपणा हाथे नथी आव्या।" वे श्रीमद् देवचन्द्रजी महाराज से स० १७७७ मे पाटण मे मिले थे, उनके द्वारा सहस्रकूट जिनो की नामावली ज्ञात कर विद्वत्ता से बडे प्रभावित हुए थे।

आनदघनजी की चौवीसी पर दूसरा बालाववोध स० १८६६ में श्रीमद् ज्ञानसारजी महाराज द्वारा लिखा गया जो उच्चकोटि के विद्वान और वयोवृद्ध मस्त योगी थे। उन्होने लगभग चालीस वर्ष पर्यन्त प्रस्तुत चौबीसी का अध्ययन किया था फिर भी आनदघनजी के गभीर आशय का आकलन नही कर सके पर जो कुछ अध्ययन किया स्वय को सतोष न होने पर भी श्रावकों/मुमुक्षुओ के आग्रह से जैसा बन पड़ा बालावबोध लिखा।

आचार्य श्री ज्ञानविमलसूरिजी का टब्बा श्री ज्ञानसारजी के अध्ययन की कसौटी मे खरा नही उतरा। अनेक स्थानो मे अर्थ स्खलना व अविचार पूर्ण टब्बा होने से उसकी मार्मिक आलोचना की है किन्तु उसका मनमाना सक्षिप्त प्रकाशन भीमसी माणक ने किया जिसमे से आलोचना के अश बाद देकर प्राणहीन कर दिया है। यहाँ अध्ययनशील पाठको की जानकारी के हेतु उन समालोचनात्मक अंशो को दिया जाता है।

"ज्ञानविमलसूरि कृत टब्बा मे थी जोइयै धारी नै लिखिये पिण ते टब्बा ने जोयु ते किहा एक तौ अर्थ लिखतै अत्यन्त थोडुज विचार्यु तेउना लिखवा थी जणाय छै ते कोई पूछै किहा, ते जणाऊं, ए अभिनदन ना पदमा 'अभिनदन जिन दर्शन तरसियै' एहनौ अर्थ अभिनदन परमेश्वर ना मुख नु देखवु ते नै तरसियै छै एतलै कोई रीतै मिलै ते वाछियै एहवु लिखतै एतलूं नही बिचायु' दर्शन शब्दे जैन दर्शन नुं कथन छै किम एज गाथा मे त्रीजे पदे "मत मतभेदे रे जो जइ पूछियै" ते परमेश्वर ना मुख देखवा मा मत मतभेदे स्यु पूछस्यै नै तेज अर्थ हुवै तो आगल पद मा 'सहुथापे अहमेव' ते परमेश्वर ना मुख दर्शन मां सर्वमत भेदी अह एनू स्युं थापे पर अंत ताइ इमज लिख्ये गयुं।"

ज्ञानविमल करतै अरथ, कर्यौ न किमपि विचार।
तेथी ए तवना तणो, लेख लिख्यो अविचार ॥१॥

"कोई कहिसी बिना विचार्यौं स्युं लिख्यौ ते, पहिली गाथा मा "मत मतभेदे जो जइ पूछिये सहु थापे अहमेव' ए पद मां परमेश्वर ना मुख दर्शन नो स्यौ विशेषण फिरी दर्शन शब्दे सम्यक्त अर्थ लिख्युं तिहा इम न विचायु' 'अभिनंदन जिनदर्शन, जैन दर्शन, ते बिना मत मतभेदे पूछतै अह एव स्यूं थापै फिरी अति दुर्गम नयवाद, आगम वादे गुरुगम को नही, धीठाई करी मारग सचरूं, एउमा मुख नो सम्यक्त्व नौ स्यौ विशेषण मुख्य विचार्यो ज थोड़ो" (अभिनन्दन स्त० बाला०)

"इहां चद्रप्रभुजी नी स्तवना मा प्रथम ज्ञानविमलसूरि इम लिख्यु' हिवे शुद्ध चेतना अशुद्ध चेतना प्रते कहै छै। अनादि आतमायै उपाधि भावै आदर्या माटै सपत्नी भावै सखी कही पिण शुद्ध चेतना नै सखी सुमति श्रद्धादि सभवै जिम × × ए स्वपक्षे वचन सूत्र कर्त्तायेज कह्यौ ते सूत्र कर्त्ता तौ भद्रक न हुतौ पर अर्थकर्त्ता—इम लिख्यु, ते ते जाणै"। (चन्द्रप्रभ स्तवन)

"ज्ञानविमलसूरि महापण्डित हुता तेउए उपयोग तीक्षण प्रयुंज्यो

हुत तो समर्थ अर्थ करी सकता । तेउए नो अर्थ करतै विचारता अत्यन्त न्यूनज करी, तें मैं ज्ञानसार मारी बुद्धि अनुसारे संवत् १८६९ थी विचारतै विचारतै सं० १८६६ श्रीकृष्णगढ़ मध्ये इसो लिखी पर मैं इतरा वरसा विचार विचारता ही सी सिद्धि थई एहवो मोटो पनि विचार विचार लिखता नो सम्पूर्ण अर्थ भासो पर ज्ञानविमलसूरिजीयें तो असमभ. व्यापारी ज्यु सौदो बेचो करे नफो टोटो न समझे, तिम ज्ञानविमलसूरिजीयें पिण लिखता लिखण न अटकावणी एह पण्डिताई नो लक्षण निर्द्धार कीनो, स्वयं अर्थ समर्थित नो तिणन न किणी ।'
(सुविधिजिन स्त० बाला०)

सूयवत्तांय शीतल जिन नो स्तवना मा "शक्ति व्यक्ति त्रिभुवन प्रभुता निर्ग्रन्थता सयोगे रे' ए गाथा मा पाठ क्षितमंयोगी त्रिभंगी बतावी छै ने अर्थकर्त्ता ज्ञानविमलसूरे एहवु लिख्यु शक्ति पामी ने करुणा तीक्ष्णता वर्म हणवानें विनै व्यक्तज छै त्रिभुवन प्रभुता पामी ने उदासीनता ए त्रण गुण निग्रन्थता नें सयोगे अथवा शक्ति व्यक्ति । त्रिभुवन प्रभुता अने निगन्थता ३ ए त्रिभगी तुम माहि सामठी छै ए लिखत तिहा थी ज लिख्यो छै। आई उपयोग प्रयुञ्जना थोड़ी प्रयुजी, फिरी" इत्यादिक बहु भग त्रिभंगी" तिहा बहुभगत्रिभगी नै स्थाने ए त्रिभगी लिखता ही थोडु विचायु का उत्पत्ति १ नास २ परमेश्वर मा नथो सभवता सत् १ असत् २ सद् सत् ३ ए त्रिभगी नो सभव न छै। (शीतल जिन स्त० बाला०)

अर्थ करतै ज्ञानविमलसूरे "श्री श्रेयास जिन अंतरजामी एहनु अर्थ लिख्यु यथा—श्री श्रेयास जिन अतरजामी मारा मन मा वस्या छो, ते मारी विचारणाये इम न जोइये किम एतो सुमति सहित आनदघन नो वचन परमेश्वर थी छै यथा"—

अर्थ करताये अर्थ करते थकै अहि प्रमाद वशै ना भ्रान्ति वशै लिख्यो जणाय छे। एम अनेकरूप नयवादे एहनू अर्थ इम लिख्यु छे शुद्ध

निश्चय नये करी नयवादी अनेकरूपी छै ए वर्ण लिख्या छै ए वर्णो नो रहस्यार्थ लिखवा वालै ने भास्यौ हुस्ये बीजुं ए लिखत असबद्ध प्रलाप भासै छै।" (श्रेयास जिन स्त० बाला०)

अर्थकर्त्ता ज्ञानविमलसूरै ए गाथा नो अर्थ करता, हू छू तो महा-मूर्खशेखर परं आइं तो मामूर थोडूज विचार्यु जणाय छै यथा.... स्युं सम्भव पर रागांगी नु वाय सरवु ही मलार" (विमलजिन स्तवन बाला०)

ए स्तवन नौ अर्थ करता अथकर्त्तांये मूलथीज न विचार्यु —धार तरवार नी तो सोहिली पर १४ जिन नी चरणकमल सेवामां विविध किरिया स्यू सेवै, फिरी चरण सेवा मा गच्छ ना भेद तत्वनी बात उदर भरण निजकाज करवानो स्यो सम्बन्ध ? फिरी चरण सेवा मा निरपेक्ष सापेक्ष वचन, झूठा साचा नो स्यो संबध ? फिरी देवगुरु धर्म नी शुद्ध श्रद्धा नी शुद्धता, उत्सूत्र सूत्र भासवा नो पाप पुण्य नो सम्बन्ध स्यौ ? पर चरण सेवा—चारित्र सेवा ए अर्थ न पाम्यु चरण सेवा पद सेवा भास्युं तेहथी एज अर्थ ने सिधश्री थी मिती पर्यन्त अन्धोधुन्ध परै धकावता ज चाल्या गया।" (अनतजिन स्त० बाला०)

अर्थकर्त्तांये अर्थ करता "देखे परम निधान" आइ निधान शब्दै धर्म निधान एहवो लिख्यो नै आइं "निधान" शब्दै स्वरूप प्राप्तिरूप निधान ए अर्थ छै। धर्म प्राप्तिरूप अर्थ नथी सभवतुं · एहनौ पिण अर्थ वलित छै पर लिखवानो स्थानक नथी (धर्म जिनस्त० बाला०)

ए स्तवन मा अर्थकारके 'कहो मन किम परखाय' ए पद नो अर्थ करते मन प्रसन्नवत थई ने कहौ एहवु परमेश्वर थी कहयुं ने ए वचन विरुद्ध छै। परमेश्वर ने मन नु मनन न सभवै" (शान्ति जिन स्त० बाला०)

ए स्तवन मां अर्थकर्त्तांये "नाखै अलवै पासे" ए पदनुं अर्थ इम लिख्यु जे चितवे काई अलवै वांकू करै ते ए पद नू तो अक्षरार्थ, अलवै

सहिजै, पास पदनु अर्थ जालि मां नाखै, शब्द नुं अक्षरार्थ जोइयै तो इम ; पर मोटा विबुध, भाषा ने सहिज जाणीने अर्थनोकर्त्ता अर्थ करतां विचारणा थोड़ी राखै पर एह्वी भासा नो तो अर्थ, अर्थ करता ने जरूर विचारी ने अर्थ लिख्यूं जोइये किम "सितं वद एकं मा लिखः" एह्वू कह्युं छै ते माटे, फिरी आगल पिण लिखतौ थोडुं विचार्युं यथा—सूत्रकर्त्तायि प्रथम गाथा ना अ त पद मां ए पाठ कह्युं तिम तिम अलगुंभाजै ए पद नु अर्थकर्त्तायि लिख्यु तिम तिम अलगुं अवलु मुक्ति मार्ग थी विपरीत भाजै छै एह्वु टब्बा मे लिख्यु पर अलगुं शब्द नु अवलु किम थाय तेथी अर्थकर्त्तायि आई तौ अर्थ करतै मूल थी थोड़ी विचारणा कीनी। फिरी ते "समझे न मारौ सालौ" एह्नु अर्थ लिख्युं माह् रोसालौ ते रीस घणी मन मां इर्ष्यावित इम लिख्यु ने मन मा रोस विना काम क्रोधादि मन स्यु नथी संभवता तेथी माह्रौ सालौ तो न सभवै फिरी तेह्नुं पर्यायार्थ करी ने लिख्यू छै सालौ ते देश विशेपे घणियाणी ना भाई नै कहै छै ते देश विशेषे नो जइये लिख्यु जोइये जो सर्व देश विशेषे घणियाणी ना भाई नें सालौ न कहिता हुवै कोई देशे कहिता हुवै तौ पर सर्व देशो मां घणियाणी ना भाई सालौ ज कहै छै तइयैते देश विशेषे घणियाणी ना भाई न सालौ कहै ए लिखवानु स्यू कारण" (श्री कुन्थु जिनस्तवन वाला०)

ए तवनानो अर्थ करते अर्थ कारके "पर वडै छाहड़ी जिह पडै" एह पदनु अर्थ पर कहितां पुद्गलनी बड़ाई नी छाया तथा स्व इच्छा जिहां पडै तेहिज पर समय नौ निवास एतले जे इच्छाचारी अशुद्ध अनुभव तेहिज परसमय कहिये। ए अक्षर लिख्यां पिण पर नो तो पुद्गल थाय पर वड़ शब्द नु बड़ाई अर्थ किम सभवै नै बड़ाई सी ? वृक्षनी छाया संभवै पर अर्थ कर्त्तायि अर्थ करते काइ थोडु विचार्युं जणाय छै। फिरी एक पखौ लखि प्रीत नी तुम साथे जगनाथ" हे जगनाथ तुम साथे एक पखी प्रीत लाखे गमे नरमी छे। सरागी ते लाख गमे शुद्ध व्यवहार तुम साथे प्रीत बांधनार छै प्रथम तो ए

अक्षरार्थ मांहि कोई रहस्यार्थ नयी भासतुं फिरी गाथा ना उतर दल मा विरोधाभास छै पूर्व दल मा तो पर पक्ष सबधी अर्थ लिख्यु, उत्तर दल कृपा करी ने तुम्हारा चरणं तले हाथ ग्रही ने मुझने राखज्यो ए स्व पक्ष स्युं" (श्री अरनाथ स्त० बाला०)

अर्थ कारके पाचमी गाथा ने बीजे पदे पामर करसाली पामर करसाओनी अलि पक्ति ते बे पदोनो एक पद करी ने भूंछ एकज अर्थ कर्यु फिरी दशमी गाथा नें अते त्रीजे पदे दोष निरूपण तिहा एक वार तो दोष नु निरूपण कहिवू ए अर्थ कर्यु फिरी वा लिखी ने दोष नु निरूपण निदूंषण थया एहवु अर्थ करी दीधु फिरी आठवी गाथा ने त्रीजे पदे जग विघन निवारक पद नु जगत ने विघनकारी ते निवारी ने एहवु अर्थ करी दीधु तेनु अर्थ मारी बुद्धि प्रमाणे लिख्यु ते जोज्यो आनदघन नु आशय आनदघन साथे गयु (श्री मल्लि जिन स्त० बा०)

"अर्थकर्त्तायि जड़ चेतन ए आतम एकज" ए त्रीजी गाथा नु अर्थ विरुद्ध पर विरुद्ध पण न कहाय एक ज गाथा मा त्रण ठिकाणे निरपेक्षक वचन लिखी गयुं प्रथम जड़ चेतनेति X X X ए ऊपर लिखवानु स्युं कार्य ए एक स्थानके लिख्यु पर अन्य स्थानके लिख्यु तेहनु केतलुं क लिखूं पर मोटा" (मुनिसुव्रत जिन स्तवन बाला०)

अर्थकर्त्तायि जे जे स्थानके जे जे विरुद्ध लिख्युं ते ते मारै लघु मुखे मोटाओना अर्थ नो अपमान केटलोक लिखु पर अर्थकारके अर्थकरतै अल्प ही विचार्युं नही। अर्थकार मा विचारणा अल्प जणाय छै यथा—सिद्ध चक्राय श्रीपाल राजा—सूत्रकर्त्तायि तो आतम सत्ता विवरण करता इम गूथ्यो ने अर्थकारके अर्थ करता लिख्यु आतमा नी सत्ता ने कर्त्ता नो विवरण आतमा मा तिष्टमान छै ए स्यूं लिख्यू इणै तो आतम सत्ता नें विवरण करता एहवुं रहस्य कह्यु तेथी साख्य योग वेई आतम सत्ता ना विवरण कारक कह्या फिरी एहथी आगल पदमां "लहो दुग अग" तेनु अर्थकारकै लहो नो लघु सामान्य अर्थ कर्या सूत्रकार नो

रहस्य लह्यो दुग अग साम ए बे अग लह्यो-लाभो नाम पामो फिरी एथी आगल तीजी गाथा मा त्रीजो पद लोकालोक अवलंबन भजिए एहवु अर्थ लिख्यु लोक ते पचास्तिकायात्मक अलोक ते आकाशास्ति कायात्मक वा लोक ते रूपी द्रव्य अने अलोक ते अरूपी द्रव्य इम लिख्यु ते भेद सौगत मीमासक कह्या तेमां पंचास्तिकायात्मक लोक मां स्यु भेद अलोक आकाशास्तिकायात्मक मा स्यु अभेद फिरी वा लिखने लोक अलोक नु अरूपी द्रव्य अर्थ लिख्यु ते सौगत मीमांसक मा पचा-स्तिकायात्मक वा रूपी अरूपी द्रव्य एक तेज मा स्यु संभव पर लिख्या चल्या गया लिखता लेखण अटकावणी नही एज रहस्य विचार्यु जणाय छै फिरी आगल पिण घणै ठिकाणै इमज लिख्यु छै ने तमे ए टब्बा मा अर्थ अने ते टब्बा नो अर्थ जोइ नै विचारस्यो तइये प्रकट जणावस्यै एमा मै निर्बुद्धिये मारी मूढ मते लिख्यु छै परं कर्त्ता नो गभीराशय कर्त्ता समझै" (नमिनाथ स्त० बाला०)

'अर्थकारै अर्थ लिखते-जिण जोणी तुझ ने जोऊ तिण जोणी जोवो राज, एक बार मुझनै जोवो, ए पदो ने दोय स्थानकै जोवौ राज मुझनै जोवो राज नो अर्थ लिख्यो तुमे जोवो हे राजन् मुझ ने जोवा नो अर्थ लिख्यौ, जो पोता ना दास भाव मुझ ने जोवो निरखो आइ एतलो तो विचारवो हतो ए कविराज राजन् तो अर्थ भिन्न विना पुन-रुक्ति दूषण दूषित पद योजना करवा थी रह्यौ। तेथी भला आई तो काई विचार्यु हतुं पर बेइ वार जोवो-जोवो अर्थ करी ने वेगला थई गया। फिरी "एक गुझय् घटतु नथी" तिहा गुझ्य ए ठहिराव्यौ के परणवा आव्या पिण पाछा फिरो गया ए स्यानी गुझय सर्व लोक थी प्रगट माटे फिरी कारण रूपी नो अर्थ लिख्यो प्रभुजीये पोता नो उपा-दान शुद्ध थावा ने ए प्रभु निमित्त रूप भज्यो सु प्रभुए भज्यो एवो वचन राजीमती नो छै पर धकाव्ये गयो। (श्रीनेमि जिन स्त० बा०)

प्रस्तुत वालाववोध के प्रारभ मे ७ दोहे मध्य के ५ दोहे और अन्त्य प्रशस्ति के १२ दोहो में अपनी लघुता दर्शाते हुए कहा है कि बुद्धि समृद्धि

विना राज ऋद्धि की आशा भिखारी की चाह के सदश है फिरभी गुरु कृपा से पंगु के गिरि उल्लघन सदश कही जायगी। आत्मानुभूति के विना आनदघनजी के पदो का अर्थ करना गत आँख/अधे के अजन लगाने सदश है। वे लिखते है "आशय आनदघन तणो, अतिगंभीर उदार। वालक बाँह पसार जिम कहै उदधि विस्तार १॥ "अथवा मेरी बुद्धि मे उनका आशय पकड़ना दिन के प्रकाश और अमावस की रात्रि के अतर जैसा और बालक के हाथ पसार के नभ के विस्तार वताने जैसा है। विद्वानो को पूछने पर भी कोई कार्य सिद्धि नही हुई। ज्ञानविमल सूरि के अर्थ को बार-बार पढने पर भी अविचारपूर्ण लगा तो वैसी वुद्धि निपुणता और शास्त्र ज्ञान के अभाव मे भी ३७ वर्ष के अध्ययन पश्चात् भी श्रावक/मुमुक्षु के आग्रह से लिखना पड़ा है।

उपर्युक्त समालोचना से फलित होता है कि श्री ज्ञानविमलसूरिजी महाराज उपाध्यायजी के साथ आनदघनजी से मिले, स्तवन लिखे आदि वाते केवल कल्पना सृष्टि है। उनका प्रकाशित चित्र भी जनता को भ्रान्ति मे डालने वाला है। श्रीमद् ज्ञानसारजी के विवेचन से ज्ञात होता है कि श्रीमद् देवचंद्रजी महाराज ने उनकी चौवीसी के वाकी दोनो स्तवन लिखे थे। श्री आनदघनजी ने चौवीसी कब और कहाँ बनाई इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नही है श्री यशोविजयजी महाराज का जन्म १६८१ और दीक्षा स० १६८८ के आसपास हुई थी। वे गुरु महाराज के पास ११ वष अभ्यास कर उनके साथ काशी जाकर ३ वर्ष और ४ वर्ष आगरा विद्याध्ययन कर १७०६-७ मे गुजरात पधारे और ग्रन्थ रचना मे लगे रहे। उस समय तपागच्छ गच्छ भेद और शिथिलाचार व श्री पूज्यो के आतक से प्रभावित था। स्वय यशोविजयजी महाराज को उनके प्रभाव मे आने को विवश होना पड़ा था।[1]

---

१ तेमने अढार दिवस सूरि नी नजर तले उपाश्रय नी कोटडीमा राख्या हता (पृ० १२५)

उपाध्याय यशोविजयजी न्याय विशारद, तार्किक शिरोमणि और अपनी शैली के मूर्द्धन्य विद्वान थे जिनके समकक्ष सहस्राब्दी में कोई नही आ सका। उन्होने शताधिक ग्र थ रचे किन्तु दुर्भाग्य की वात है कि उनके अध्येता नही मिले अन्यथा उनकी अनेक प्रतियाँ ज्ञान भण्डारो मे मिलती और वे लुप्त नही होते। यदि उनकी आनदघन चौवीसी वालाववोध उपलब्ध हो जाता तो सोने मे सुगध होती, परन्तु जैन समाज अपनी महान् ज्ञान समृद्धि की रक्षा करने में ही अक्षम रहा, अध्ययन तो दूर रहा।

श्री ज्ञानविमलसूरिजी के पश्चात् ज्ञानसारजी के वालाववोध का परिचय ऊपर आ गया है। वीसवी शताब्दी मे शताधिक ग्र थ रचयिता, अध्यात्म रसिक, अपनी दीक्षा से पूर्व श्रीमद् देवचद्रजी महाराज के आगमसार का सौ वार अध्ययन करने वाले, उनकी प्राप्त समस्त रचनाओ को प्रकाश मे लाने वाले महान जैनाचार्य श्री वुद्धिसागरसूरि महाराज हुए जिन्होने 'आनदघन पद सग्रह भावार्थ' नामक महान् ग्र थ पादरा से प्रकाशित किया। उसकी द्वितीयावृत्ति बम्बई से सचित्र छपी जिस मे प्रारभ के ६ पेज १४ चित्र, ११३ पेज मे उपोद्घात व अध्यात्मज्ञाननी आवश्यकता, २०६ पेज मे आनदघनजी का जीवनचरित्र एव ४५६ पृष्ठो मे पद सग्रह और स्तवन प्रकाशित हुए है! आचार्य श्री परमश्रद्धेय एव महान् लेखक व कवि थे किन्तु दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि उन्होने यशोविजयजी महाराज के मिलन स्वरूप अष्टपदी के सिवाय विना किसी प्रमाण के अनुमानिक कल्पना सृष्टि द्वारा विस्तार पूर्वक प्ररूपणाए कर डाली। मै यहाँ कुछ बाते प्रस्तुत करता हूँ।

"आ योगीवर नुं मूळ नाम लाभानदजी हतु तेणे तपगच्छ मा दीक्षा अगीकार करी हती तेमना पदो लगभग हिन्दुस्तानी मिश्रित मारवाड़ी भाषा मा रचायला छे (आमुख पृ० ११)

(१) श्रीमद् आनदघनजो नु दीक्षा समयनु नाम लाभानंद जी हतुं (२) तपा गच्छ मां दीक्षित थया हता (३) जन्मस्थान गाम के प्रदेश, जन्म तिथि के सवत् सबन्धी लेखित हकीकत प्राप्त थती नथी (४) तेओ ना नजीक ना अने साथेना-मुनिवर्यो ए पण लखेला ग्र थो मा आ हकीकत जोवामा आवी नथी इत्यादि १० बातो मे लल्लुभाई करमचन्द्र दलाल ने न० तपागच्छ मा दीक्षित थया हता पर "आमाटे बधु तपासनी जरूर जणाय छे" लिखा है तथा आगे भी कई बाते लिखी है।

श्रीमद् आनदघन जीवनचरित नी रूपरेखा (पृ० १२२) मे चौवीसी के कुछ शब्दो को उद्घृत करते हुए उन्हे गुजरात मे जन्मे हुए सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया गया है जब कि अधिकाश शब्द दोनो देशो मे समान रूप से प्रयुक्त होते थे। खासकर सीमावर्त्ती गाँवों मे तो कोई अन्तर था ही तही। फिर भी उन्हे गुजरात मे जन्मे हुए मान सकते है लिखकर पृ० १२५ में श्रीमदे ज्ञान अने वैराग्य योगे कोई तपा गच्छीय मुनिवर पासे साधु व्रत नीदीक्षा अगीकार करी हती" तेओ श्रीए तपा गच्छ मां दीक्षा अगीकार करी हती अने तेमनु नाम लाभानदजी हतु" "पोता ना गुरु नी पेठे तेओ तपागच्छनी समाचारी प्रमाणे साधु धर्मनी आवश्यकादि क्रिया करता हता"

पृ १३१ मे सबलपुरावो लिखते हुए-एक वखत श्री तपागच्छ गगन दिवामणि श्री विजयप्रभसूरि विहार करता करता मेड़ता पासे ना गाम मा गया—त्यां श्री आनदघनजी महाराज नी मुलाकात थई श्रीमद् आनदघनजीए तप गच्छ ना महाराज श्री विजयप्रभसूरि ने वदन कयु' अने कह्यु के आपना जेवा शासन रक्षक सूरि राजा नी कृपा थी हुँ मारा आत्मा नु हित साधवा प्रयत्न करु छु श्री विजय-प्रभसूरिजीए श्रीमद् आनदघनजी ने एक कपड़ो ओढाड्यो अने कह्युं के तमे तमारा आत्मा ना ध्यान मा सदाकाल प्रवृत्त थाओ श्री

वीर प्रभुना वचनो ने अनुसारे अप्रमत्त पणे आत्मा ना गुणो प्रकट करवा प्रयत्न करो, श्री विजयप्रभसूरिजी श्रीमद् आनंदघनजी नी सरलता देखी बहु आनद पाम्या। आनदघनजी नो त्याग-वैराग्य दशा जोई ने श्री विजयप्रभसूरि पासे रहेला साधुओ खुश थया। श्रीमद्-आनदघनजी त्यायी अन्यत्र विहार करी गया।

इसी प्रकार आनदघनजी की चर्या, लाभानद से आनदघन नामप्रसिद्धि तथा उनके सन्बन्ध मे लोगो की धारणा तथा उपाध्याय श्री यशोविजयजी का आबू की गुफाओ मे विचरते समय जा कर मिलने की विस्तृत बाते लिखते हुए उपाध्यायजी कृत अष्टपदी लिखी है। इनमें प्रमाण भूत अष्टपदी सही है वाकी अनुभूति की वाते आत्मानुभवी योगिजन ही वता सकते है। आगे चलकर लिखा है कि आनदघनजी ने भी उपाध्यायजी के गुणो की अष्टपदी रची है बीजापुर के शा० सुरचद सरूपचन्द्र ने उन्हे कहा। ऐसी कृति प्राप्त हुए बिना कुछ भी नही कहा जा सकता।

श्री विजयप्रभसूरि जी आदि कब मेड़ता गये ? उन्हे आनदघनजी मिले इसके शरुप रास आदि ग्रथो मे लिखे प्रमाण बिना केवल कल्पना सृष्टि ही कही जायगी आचार्यश्री ने इसे सबल पुरावा लिखा है पर पट्टावली जनश्रुतियो में घटना का रूपान्तर हो जाता है और कथानायक का नाम विस्मृत होकर हरेक बात अपने इष्ट आचार्य के सबन्ध मे जुड़ जाती है। चमत्कार की बातो मे भी यही समस्या ऐतिहासिक परिशीलन करने वालो के समक्ष उपस्थित रहती ही है।

साधारण जनता चमत्कार के प्रति विशेष दिलचस्पी रखती है। चमत्कार आश्चर्यजनक घटना को कहते हैं। महापुरुष चमत्कार के अधिष्ठान है, पर वे इच्छा पूर्वक चमत्कार दिखाते नही वे तो स्वतः होते है। अगर होनहार होता है तो उन्हे स्फुरणा होती है और उसके प्रभाव से वह कार्य हो जाता है। तीर्थङ्करो के चौतीस अतिशय तथा युगप्रधान

षुरुपों के पुण्य प्रभाव से घटनेवाली घटनाए इसी तरह स्वतः होती है। ऐसी घटनाएं अनेक प्रचलित है जो सम्बन्धित महापुरुषों का नाम विस्मृत होकर किसी अन्य अभीष्ट महापुरुष के नाम से प्रचलित हो जाती है। आप देखेगे हेमचन्द्राचार्य, जिनदत्तसूरि, जिनप्रभसूरि, जिन चद्रसूरि, हीरविजयसूरिजी के नाम से चढी हुई एक दूसरे से सलग्न घटना विपर्यय है।

श्री बुद्धिसागरसरिजी महाराज आदि के द्वारा लिखित श्रीमद् आनदघनजी महाराज के जीवनचरित्र मे ऐसी कई घटनाए है वास्तव मे अनायास घटित चमत्कारो के बनिस्पत इच्छापूर्वक घटित चमत्कार आत्म लब्धि का अपव्यय और ससारवर्द्धक स्टेशन बढाने बाते होते है। यहा श्रीमद् के सबन्धित चमत्कारो की समीक्षा अभीष्ट है।

१ श्रीमद् के ध्यान की उच्च दशा मे गुफावास करने पर सिह व्याघ्र, सर्पादि पड़े रहते थे जिनकी गर्जना से साधारण व्यक्ति का हृदय फट जाय ऐसी गुफाओ मे साधना करते थे। इस तपोबल और आत्म लब्धि का हम शतश समर्थन करते है।

२ मित्र योगी द्वारा प्रेषित स्वर्णरस सिद्धि को फैक देना और उसके द्वारा तिरस्कार पूर्ण चैलेज देने पर श्रीमद् द्वारा सकल्प सिद्धि से चट्टान पर प्रश्रवण कर उसे स्वर्णमय बना देना—लोककथा प्रसिद्ध है, समीक्षा आवश्यक नही।

३ जोधपुर के महाराजा की दुहागिन रानी द्वारा महाराजा की कृपा दृष्टि हेतु यत्र मागने पर "राजाराणी दो मिले उसमे आनदघन कु क्या ?" लिखकर दिये कागज के यत्र को धारण करने पर वह प्रीति पात्र हो गई। इसी प्रकार की कथा श्रीमद् ज्ञानसारजी को उदयपुर महाराजा द्वारा दुहागिन रानी का यत्र खोलकर देखने पर "राजा राणी सुं राजी हुवै तो नाराणे ने काइ राजा राणी सु रूसै तो नाराणे

ने काइ ?" लिखा मिला। लोक कथा का हार्द एक है और नायक भिन्न। (देखिये हमारी—ज्ञानसार ग्रन्थावली)

४ जोधपुर नरेश के पधारने पर ज्वरग्रस्त आनंदघनजी ने वार्त्ता—उपदेशहेतु अपना ज्वर कपड़े में उतार रखा। थर-थर धूजोते कपड़े का रहस्य राजा ने ज्ञात किया। यही बात महाराजा सूरतसिह और ज्ञानसारजी के लिए प्रसिद्ध है (ज्ञानसार ग्रन्थावली पृ० ३९) इसी से मिलती जुलती बात सुलतान महमद के जाने पर ज्वरग्रस्त श्री जिनप्रभसूरिजी द्वारा ज्वर को पानी मे उतारने और उबलने लगने की उपलब्ध है (देखिए-शासन प्रभावक जिनप्रभसूरि और उनका साहित्य पृ० ७०)

५ मेड़ता मे श्रेष्ठि पुत्री को मृत पति के साथ चिता प्रवेश करते रोकने के लिए उपदेश मे "ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे" स्तवन निर्मित होना। चौवीसी के २२ स्तवन निर्माण को यशोविजयजी और ज्ञानविमलसूरि द्वारा छिपकर सुनना और २ स्तवन न बन सकना तथा चित्र निर्माणकर गुफा मे उपाध्यायश्री द्वारा ज्ञानविमलसूरि को लिखाना अप्रामाणिक है। कोई आधार नही। ज्ञानविमलसूरिजी के टब्बे के उपर लिखी ज्ञानसारजी की समीक्षा ही पर्याप्त है।

६ जोधपुर महाराजा के धन की आवश्यकता पड़ने पर मेड़ताकी कोटयाधिपति सेठानी के यहाँ सिपाहियो द्वारा घेरा डालने और आनदघनजी को प्रार्थना करने पर उन्होने अक्षय लब्धिसे एक-एक तरह का सिक्का रखवाया और उस मे से अखूट धन से कितने ही घड़े भर दिये। इन सब दन्तकथाओ का विस्तृत लेखन हुआ है। महाजन वश मुक्तावली पृ० २८ मे बाँठियो के इतिहास में हरखचंद की सतान हरखावत कहलाए। मेड़ता नगर मे बादशाह खाजे की दरगाह जाते आया। द्रव्य की आवश्यकता होने से हरखावत को बुलाकर ५२ सिक्के के ६ लाख रुपये मांगे चिन्ताग्रस्त सेठ आनदघनजी मुनि पास

गया मुनि ने योगसिद्धि से ५२ सिक्के पूर्ण करे बादशाह ने हरखावत को शाहपद दिया। मुनि दर्शनविजय त्रिपुटी महाराज ने जैन परम्परानो इतिहास मे इस बात का उल्लेख करते हुए आनदघनजी को 'ते तपागच्छनाहता' लिखा है।

७ एक वार किसी गाँव के निर्धन वणिक के यहाँ श्रीमद् ठहरे थे। उसे अर्थचिन्ता मे रुदन करते देखकर उन्होने लोहा मगाया। वणिक ने इकसेरिया वाट लाकर दिया। श्रीमद् प्रातः काल विहार कर गये और उनके स्थान पर लोहे के सेर को सोने का पाया।

८ श्रीमद् यशोविजयजी द्वारा स्वर्ण-सिद्धि की वाछा के लिए जाने पर लघु शँका निवृत्यर्थ बैठने की, सती होने वाली सेठानी अध्यात्मिक उपदेश देने पर तथा किसी राजा की दो पुत्रियो को रुदन करते उपदेश द्वारा शोक दूर करने आदि पर भी श्रीमद् के चारित्र पर दोषारोपण और दोनो हाथ अग्नि पर रखने और विश्वस्त करने आदि कितनी ही किम्वदन्तियो पर विस्तृत आलेखन हुआ है जिसकी समीक्षा अनावश्यक है।

श्रीमद् की पद रचना के विविध प्रसङ्गो फो लेकर तत्सम्वन्धी लोकोक्तिया जैसे पारने के दिन आहार न मिलने, चमत्कार लोभी श्रावकों के तथा जैनेतर जिज्ञासु जन के प्रश्नादि पर भी आचार्य श्री ने काफी विवेचन किया है।

श्री आत्मारामजी महाराज ने बीसवी शताब्दी मे बने समेतशिखरजी के ढालिया के अनुसार जो परवर्त्ती अनैतिहासिक बात लिखी है कि आनदघनजी सत्यविजयजी के लघु-भ्राता थे यह सौ वर्ष पूर्व की कल्पना सृष्टि है—"तेमना लघुभाई लाभानदजी, ते पिण क्रिया उद्धार जी"। वास्तव में आनदघनजी सत्यविजयजी से अवस्था में बड़े थे और न उनका किसी भी प्रकार से पारस्परिक पारिवारिक सबन्ध

ही था। सत्यविजय पन्यास लाडलु (? नृ) के कुमार वीरचंद के दूसरे पुत्र थे यह जिनहर्ष कृत सत्यविजय निर्वाण रास से सिद्ध है। अतः न तो वे दोनो भाई-भाई थे और न एक स्थान मे उनकी जन्मभूमि ही थी।

मेड़ता चातुर्मास मे नगरसेठ के आने के पश्चात व्याख्यान प्रारभ किया जाता था। विलम्ब हो जाने से समय पर आनदघनजी द्वारा व्याख्यान प्रारभ करने पर नगर सेठ द्वारा उपालभ देने पर वे सब कुछ छोड कर जगल में चले जाने की घटना मे सभी एकमत है। किन्तु रायचद अजाणी ने अवधूत आनदघन चोवीसी मे उनके देह विलय स्थान को गुजरात या मेड़ता लिखा है। मुनि श्री रत्नसेन विजयजी पृ-१७ मे गुजरात प्रदेश के गांव मे उपर्युक्त नगरसेठ के आगमन से पूर्व व्याख्यान प्रारंभ की घटना गुजरात के गांव मे लिखी है। रायचद अजाणी ने ज्ञानसारजी के "आशय आनंदघन तणो" दोहे को ज्ञानविमलसूरि कृत एवं रत्नसेनविजयजी ने इस दोहे को पृ १४ मे उपाध्याय यशोविजयजी कृत लिखा है, पर उपसहार मे उन्होंने श्री ज्ञानसार जी महाराज का ही लिखा है। आनदघनजी की जीवनी की घटनाओ मे उन्होने भी बुद्धिसागरसूरिजी का ही अनुवादन किया है।

९ दिल्ली के शाहजादे का वीकानेर आना, वृद्ध यति की मस्करी और अश्वारूढ शाहजादे को "वादशाह का वेटा खडा रहे" कह कर आनदघनजी द्वारा स्तंभित कर देने की वात भी अप्रामाणिक है। इस के विषय मे वयोवृद्ध कोठारी जमनालालजी द्वारा मैंने सुना था कि महाराजा गगासिहजी के समय मे जव वे नावालिग थे तो ताल्व्होट साहव ने दूसरे चिदानदजी को उपालभ्भ और अपशव्द कहे कि आप महाराजा को उलटासीधा सिखाते है। इसी पर यह घटना हुई थी। यह चित्र और घटना का आनदघनजी से कोई सवन्ध नही है। मुगल इतिहास मे किसी भी शाहजादे का दिल्ली से बीकानेर आना प्रमाणित

नही है। आनदघनजी के समय महाराजा करणसिह थे जिसे मुगल इतिहास मे करण भुरटिया 'लिखा है। वे सुबह-सुबह तुर्क का मुंह नही देखते और दरबारी मुसलमानो को भी दाढी मुंडाये रखना पड़ता था। कोई केन्द्र का अधिकारी मुसलमान आता तो उसे भुरट (कॉटे) के मार्ग से लाया जाता और खारा पानी पिलाया जाता।

श्री बुद्धिसागरसूरिजी ने आबू की गुफाओं, मडलाचल की गुफाए, सिद्धाचल, गिरनार, ईडर, तारगा आदि मे विचरने की बात लिखी है। उसका लिखित प्रमाण कोई नही मिलता। पृ० १५४ मे जोधपुर के अपुत्रिये राजा के आनदघनजी की अतःकरण से सेवा द्वारा पुत्र प्राप्ति होना लिखा है इस विषय में प्रमाणाभाव मे कुछ नही कहा जा सकता।

श्री आत्मारामजी महाराज ने लिखा है कि पन्यास श्री सत्यविजयजी ने आनदघनजी के साथ कितने ही वर्ष वन मे वास कर के चारित्र पालन किया था, इस चर्याका विस्तृत वर्णन सारा निराधार है। सत्यविजय निर्वाणरास मे तत्कलीन वर्णन है जिसमे आनदघनजी का कही नाम भी नही है। जिनहर्ष गणि के रचित रास के अनुसार सत्यविजयजी लाडनुं (सवालक्ष देश) के दूगड़ वीरचद की भार्या वीरमदे के इकलौते पुत्र थे और १४ वर्ष की उम्र मे अर्थात् १६७७ में वैराग्यवासित हो कर दीक्षित हुए थे। माता पिता अमूर्त्तिपूजक-लौका मत के थे पर पुत्र के वैराग्यकी दृढता को देखकर लौका पूज्य को बुलाकर दीक्षा लेने का कहा। पर वैरागी शिवराज को हितकारी जिन पूजा की मान्यता वाले सुविहित मार्ग मे चारित्र लेने का आग्रह देख कर विजयसिहसूरिजी महाराज को बुलाकर धूमधाम से दीक्षा दिलाई। रास मे उनके एकाकी विहार का लिखा है न कि आनदघनजी के साथ। जिनहर्षजी के अनूसार उसके छट्ठ-छट्ठ पारणा करते हुए मेवाड़ उदयपुर, मारवाड मेडता, नागोर हो कर १७२९ मे सोजत मे पन्यास पद प्राप्त किया फिर सादड़ी, गुजरात पाटण, अहमदाबाद

वहुत बिचरे, शिष्य परिवार बढा और ८२ वर्ष की आयु पूर्णकर १७५६ पोप सुदि १२ शनिवार सिद्ध योग मे स्वर्गवास हुआ। इसके एक मास बाद माघ सुदि १२ को रास की रचना हुई अतः इसे ही प्रामाणिक माना गया है। श्री मोतीचद गिरधरलाल कापड़िया के मतानुसार सत्यविजयजी ने स० १७२९ (जिनहर्षकृत रास पृ-११४) मे क्रियोद्धार पन्यास पद के पश्चात् ही किया होगा। और क्रियोद्धार के पूर्व आनदघनजी के साथ वनवास मे साधना करना नही जॅचता श्री आनदघनजी का देहविलय स० १७३१ मे होना सिद्ध है और वह भी मेड़ता मे हुआ था और पन्यास श्री सादडी से गुजरात चले गए थे। ऐसी स्थिति मे पन्यास सत्यविजय और आचार्य ज्ञानविमलसूरि के श्रीमद् आनदघनजी से मिलने और साथ मे चिरकाल रहने की वात काल्पनिक सिद्ध होती है।

आनदघनजी के जीवनचरित्र और पद पर दूसरा बड़ा कार्य किया है मोतीचद गिरधरलाल कापड़िया ने। उन्होने श्री बुद्धिसागरजी के महान् ग्रन्थ पर इस प्रकार लिखा है:—

'इतिहास ना अभ्यासीए आग्रही प्रकृति न राखता जेम वने तेम खुल्ला दिल थी काम लेवु, कोई वात ना पक्ष, मत के सप्रदाय मा खेची जवा प्रयत्न करवो नही अने वधारे आधारभूत हकीकत प्राप्त थता पोतानी जातने सुधारणा माटे खुल्ली (open) राखवी आवा नियम थी ऐतिहासिक वावत मा शोधखोल चलाववा मा आवे तो एकदरे सारग्राही बुद्धिवाला माणसो बहुलाभकारी घणो नवीन प्रकाश नाखी शके मारु मानवु छे अने ते नियम विसारी देवा थी ऐतिहासिक चर्चा मा बहु नुकशान थयु छे अने आयदे पण थशे एवो भय रहे छे, अत्यार सुधी मा आनंदघनजी ना चरित्र सम्बन्धी मोटा पाया उपर प्रयत्न मुनि श्री बुद्धिसागरजीए करेलो जोवा मा आवे छे, परन्तु कम-नसीबे तेओए पृथक्करण दृष्टिए अने वैज्ञानिक ऐतिहासिक रीति नो

मार्ग लेवाने बदले तेओए पोताना विचार प्रमाणे आनदघनजी केवा होवा जोइए बात पर लक्ष्य आपी चरित्र निरूपण कर्युं छे, अने घणी खरी जग्याए जाणे चरित्र-लेखक बनावो बन्या ते वखते हाजर होय अने अभिप्रायो साभल्या होय अथवा बातो नजर जोइ होय एवी एकान्तिक भाषा मा लेख लख्यो छे, पृथक्करण करवानी तेम ने रुचि न होवा ने लीधे बहु बातो अब्यवस्थित पणे दाखल थई गई छे, अव्यवस्थित अभिप्रायो नो एकत्र समूह करवानी पद्धति ने बदले जरा विशेष सभाल भरी तपास चलाववा मा आवीहोत····

उपर्युक्त अभिप्राय से मैं सहमत हूॅ। अब कापड़ियाजी के ग्रन्थ पर विचार करते है। आपने पन्यासजी श्री गभीरविजयजी जिनसे पदो के अर्थ करने मे बडा सहयोग मिला—द्वारा श्रीमद् की जन्मभूमि पूर्वाग्रह युक्त बुन्देलखण्ड—जहा के पं० गभीरविजयजी स्वयं थे—प्रान्त मे मानने मे सहमति दी है। यद्यपि कापड़ियाजी ने श्रीमद् के गुजरात-सौराष्ट्र मे जन्मे होने का भाषा विज्ञान द्वारा विस्तृत आलोचना कर राजस्थानी का पलड़ा भारी किया है। श्रीमद् का नाम लाभानद स्वीकार है, और यशोविजयजी के तथा सत्यविजयजी के साथ सबन्ध चिरकाल बताकर अन्तिम चौमासा पालनपुर बताते हुए 'तेमनीदीक्षा तपगच्छ मे थईहती लिखा है। फुटनोट मे लिखा है कि—कृपाचदजी तेमने खरतरगच्छ मा थएल होवा नु जणावे छे अने तेना चेलाओ (गोरजीओ) हाल हैयात छे एम कहे छे. तपगच्छ मा आ महात्मा थयेला होवाना घणा कारणो जणाय छे ते आप्या छे. खरतरगच्छ सबधी आधारभूत हकीकत मलशे तो विचारवा मा कोई प्रकार नो आग्रह नथी. हजु सूधी कृपाचदजी ना कथन सिवाय बीजु एक पण साधन खरतर गच्छना अनुमान ने मजबूत करे तेवुं जणायु नथी. गच्छ माटे आनदघनजी नेज आग्रह न होतो तो पछी तेमना सबंधमा लेख मा आग्रह न ज होवो जोइए, तो पण हकीकत तो जे "सत्य समजाणी होय तेज प्रकट करवी जोइए वि० क०"

जहाँ आनदघनजी खरतरगच्छ मे हुए इसके सम्बन्ध मे मुनि श्री कृपाचदजी (सं०१९७२ से आचार्य श्री जिनकृपाचदसूरि) द्वारा मेड़ता मे उनके वृद्धावस्था में आकर जिस उपाश्रय मे रहे वह खरतर गच्छ का उपाश्रय था, उनका स्तूप भी विद्यमान था, उनकी परम्परा के यतिजन भी विद्यमान थे इसके सिवा वे और क्या कहते यदि उनसे इसके सम्बन्ध मे और पूछा जाता तो शोध करवायी जाती। वे-तो इतिहास शोधक नही थे, आगम व जैन दर्शन के उच्च कोटि के विद्वान थे तीस बत्तीस वर्ष केवल शास्त्राभ्यास किया था। सं-१९१३ मे जन्मे थे और पुराने यतिजनो के सम्पर्क मे आये हुए थे। लाखों की सम्पत्ति त्यागकर, सघ के सुपुर्द कर क्रियोद्धार किया था नागपुर मे क्रियोद्धार कर वर्षो वाद १९५७ मे बीकानेर आकर फिर १९८४ से १९८७ तक बीकानेर रहे उसी समय हमे उनका विराजना हमारे मकान मे होने से हमे सत्सग का सौभाग्य मिला था और धार्मिक अभ्यास, इतिहास और साहित्यान्वेपण कार्य प्रारभ हुआ था। पादरा से वकील मोहनलाल हीमचद (६८ वर्षीय) व उनके सुपुत्र मणिलाल पादराकर से भी वीकानेर आनेपर घनिष्ट सम्वन्ध हुआ था। श्री आनदघनजी महाराज जब सम्प्रदायवाद से ऊपर उठ गये थे तब उन्हे बुद्धिसागरसूरिजी की भाँति सम्प्रदायवाद मे लाने के लिए अपनी धारणानुसार कल्पना मृष्टि करके सभी तपागच्छीय विद्वानो के इर्दगिर्द परिचय देकर लिखना और प्रमाणित करने का कार्य उसी कहावत को चरितार्थ करता है कि एक अप्रमाणित वात को सौ वार प्रस्तुत करने पर वह सत्य सी प्रतिभासित होने लगती है वही श्रीमद् आनदघनजी के सम्वन्ध मे हुआ। मेरे जन्म से पहले की वात है उपरोक्त प्रकाशनो को देखकर भी इतने वर्ष इस गहराई मे नही गया क्योकि वे सम्प्रदाय-वाद से ऊँचे उठे हुए महान् योगी थे। अन्तिम आत्मानुभवी विशिष्ट ज्ञानी गुरुदेव श्री सहजानदघनजी (भद्रमुनि) महाराज से ज्ञात हुआ कि श्रीमद् आनंदघनजी, श्रीमद् देवचद्रजी व श्रीमद् राजचद्रजी तीनो

महापुरुष महाविदेह मे केवली अवस्था मे विचरते हैं और ज्ञानियो की कृपा से सब कुछ ज्ञात होने पर भी बम्बई मे उनके महाप्रयाण से चार मास पूर्व मेरे द्वारा पूछनेपर रूपउदय निवास मे वे केवल इतना ही कहकर रुक गये कि उनका जन्म व महाप्रयाण भी मेड़ता मे ही हुआ था। एक ओसवाल सेठ के चार पुत्रो मे तृतीय पुत्र थे। मेरी जिज्ञासा गच्छ, गुरु और अन्य जानकारी प्राप्त करने की थी पर उन्होने कहा—स्वयं आनदघनजी ने ही अपने को इस विषय में निर्लेप रखा, तो और अधिक बतलाना उचित नही।

जब यह स्पष्ट है कि हमे श्री आनदघनजी को सम्प्रदायवाद मे नही लाना है फिर भी उपाध्याय श्री यशोविजयजी जैसे महापुरुष के सम्पर्क मे आकर अष्टपदी निर्माण एक गुणग्राहकता का और सौहार्द का आदर्श मानते हुए आनदघन बाबा की अपूर्व जीवनी के सबध मे खरतरगच्छ के प्राचीन इतिहास अन्वेषण की भावना जागृत हुई। और मेरे अन्वेषण मे जो आया वह यहाँ विस्तार से लिखता हू श्रीमद् ज्ञान-सागरजी ने गुजरात में प्रसिद्ध कहावत का उल्लेख करते हुए लिखा है कि आनदघन टकशाली, जिनराजसूरि बाबा अवध्यवचनी, देवचदजी गटरपटरिया, (एक पूर्व का ज्ञान आगे-पीछे कथन भरा पड़ा है) यशोविजयजजी टानर दुनरिया (न्यायशास्त्र का अथाह ज्ञान-आपही थापे आपही उथापे) मोहनविजयजी लटकाला उपाधियो से अलकृत है। गुजरात मे प्रचलित कहावत के अनुसार श्रीमद् आनदघनजी अधिकतर राजस्थान मे ही विचरे और मेड़ता उनका प्रधान क्षेत्र था। आनदघनजी के वचन एकदम खरे टकशाली है। यशोविजयजी का पूर्व जीवन वाराणसी आगरा और बाद मे गुजरात राजस्थान आदि मे बीता। देवचद्रजी ने अपने जीवन का पूर्वार्द्ध राजस्थान मे और उत्तरार्द्ध गुजरात मे बिताया। मोहनविजयजी की रचना रसीली और लटकेदार है पर ज्ञानसारजी ने उनके चदरास की रास की समालोचना मे चार सौ से ऊपर दोहे लिखे हैं।

खरतरगच्छ वस्तुतः कोई सम्प्रदायवाद नही किन्तु वह एक आचार। क्रान्ति थी जिसने जैनशासन को तिरोहित होने से बचा लिया था। शताब्दियो से फैलते हुए शिथिलाचार को हटाने के भागीरथ प्रयत्न मे श्री हरिभद्रसूरिजी के चालू किये प्रयत्न को पर्याप्त बल दे कर सफल बनाया। सम्बोधप्रकरणादि ग्रन्थो से उनकी हार्दिक पीड़ा चारुतया आकलन की जा सकती है, श्री वर्द्धमानसूरिजी के नेतृत्व मे आचार्य जिनेश्वर और बुद्धिसागर ने गुजरात की राजधानी पाटण मे दुर्लभराज की सभा मे शास्त्रार्थ द्वारा चत्यवासियो के गढ की नीवे हिलाकर धराशायी कर दिया। उनमे से त्याग वराग्य सम्पन्न प्रतिभाओ को उपसम्पदा देकर तथा क्षत्रिय, माहेश्वर, ब्राह्मणादि जातियो को भगवान महावीर के अहिसा और अपरिग्रह मार्ग मे प्रतिबोध देकर सम्मिलित किया। ओसवाल, श्रीमाल, महत्तियाण, प्राग्वाट आदि जातियो की श्रीवृद्धि की। उन उदारचेता महान् आचार्यो ने विशुद्ध जिनोपासना की परिपाटी के लिए विधि-चैत्यो का प्रचार किया। फलस्वरूप मन्दिरो मे वेश्यानृत्य, पान चर्वण, रात्रि मे होने वाले पूजा विधान तथा मठाधीश प्रथा दूर कर सुविहित वस्ती मार्ग का प्रचार किया। श्री अभयदेवसूरि प्रभृति आचार्यो द्वारा आगम साहित्य पर नवाङ्गवृत्तिरचना तथा अन्य दिग्गज विद्वानो द्वारा सभी विषय के सर्वांगीण साहित्य निर्माण द्वारा जो शासन सेवा की वह वेजोड़ थी। वर्तमान गच्छो मे सर्व प्राचीन होने से उसकी साहित्य साधना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। अन्य गच्छो मे भी महापुरुष उत्पन्न हुए जिससे शासन रूपी वृक्ष की सभी शाखाएँ सरस फलप्रद हुई।

आचार धारा भी निम्नगा नदियो की भाँति देश की राजनतिक, सामाजिक परिस्थियो से प्रभावित होकर आचार शथिल्य का प्रवेश होने पर समय-समय पर क्रियोद्धार द्वारा परिष्कार हुआ। मथेरण-महात्मा जाति का उद्गम उसी का परिणाम था। मुस्लिम सस्कृति से प्रभावित अमूर्त्तिपूजक सम्प्रदाय का प्रचार प्रसार भी उसी काल प्रभाव का

परिणाम था। यति-श्रीपूज्यो के शैथिल्यवश सर्वाधिक ह्रास हुआ सुविहित खरतरगच्छ को। राजस्थान स्थली प्रदेश, मेवाड़, पजाब, गुजरात, उत्तर प्रदेशादि मे सर्वत्र श्याम घटाएँ व्याप्त हुई पर महान् जैनाचार्यो, क्रियोद्धारक त्यागी वर्ग के प्रभाव से आज श्वेताम्बर सुविहित परम्परा की ह्रासोन्मुखता न्यून हुई, गत दो शताब्दियो मे तपागच्छ का उत्कर्ष प्रशसनीय रहा।

खरतरगच्छ परम्परा की सर्वागीण सेवाएँ, ज्ञान भण्डारो की स्थापना तीर्थोद्धार आदि के साथ-साथ वे औदार्यपूर्ण कार्य थे जिनका कोई मुकाबला नही। श्री जिनप्रभसूरिज़ी ने हर्षपुर गच्छीय मलधारी आचाय राजशेखर को न्याय के उत्कृष्ट ग्रन्थ श्रीधरकृत न्याय-कन्दली का अध्ययन कराया, वे अपनी न्याय कदली टीका मे उल्लेख करते है। रुद्रपल्लीयगच्छ के सघतिलकसूरि को विद्याभ्यास कराके आचार्य पद पर अभिपिक्त किया था। नागेन्द्रगच्छीय मल्लिपेणसूरि को स्याद्वादमजरी तथा भैरवपद्मावती कल्प की रचना मे जिनप्रभसूरिजी ने सहयोग दिया।

जैनेतर ग्रन्थो पर जितनी जैन टीकाएँ बनी, अधिकाश खरतर गच्छ की है। अन्य गच्छीय साधुओ को विद्यादान मे श्रीमद् देवचद्रजी महाराज भी इसी प्रकार ज्ञानदान मे अग्रणी और गच्छ-सम्प्रदाय के आग्रह रहित थे। कवियण ने लिखा है कि चौरासी गच्छ के साधु इनसे विद्यादान लेने आते किसी को इनकार या प्रमाद नही करते क्योकि विद्यादान से अधिक कोई दान नही। तप गच्छ के श्री जिन-विजयजी, उत्तमविजयजी और विवेकविजयजी को बडे प्रेम पूर्वक महामाष्य, भगवतीसूत्र, आदि आगम और अनेक प्रकरणादि ग्रन्थो का अभ्यास कराया और शास्त्र वाचन की आज्ञा दी थी। यह जन रासमाला आदि ग्रन्थो से प्रमाणित है खरतरगच्छ विभूषण महान् प्रतापी श्री मोहनलालजी महाराज को दोनो गच्छ वाले अपना

मानते है और उनके समुदाय के साधु दोनो गच्छ की शोभा बढ ते है। उनके प्रशिष्य उ० श्री लब्धिमुनिजी के उदार विद्यादान के सम्बन्ध मे स्वय गुरुदेव लिखते है—"चाहे कोइ किसी भी मत के हो, पढावे सब को हर्षित हो १ समय ले चाहे जो जितने, पढे साधु-साध्वी गृही कितने" (सहजानद सुधा पृ० ३३) विद्यादान देने मे तथा मुस्लिम सम्राटो को प्रतिबोध देने मे विद्वच्छिरोमणि महान् प्रभावक श्री जिन-प्रभसूरिजी महाराज का नाम सर्वोपरि है। सूर, कबीर और मीरा आदि की भाँति पदो का निर्माण सर्व प्राचीन खरतरगच्छ मे ही मिलेगा। तीर्थकर भक्ति मे भी चौबीसी आदि स्तवन साहित्य एवं सज्झाय आदि मे प्रचुर साहित्य उपलब्ध है। आनदघन, ज्ञानसार, चिदानद बहुत्तरी आदि पदो की परम्परा भी खरतरगच्छ मे ही प्रचलित थी जिनरगसूरि बहुतरी मे ७२ पद्य है। सुकवि बनारसीदास भी खरतरगच्छीय ही थे जिनके दिगम्बर आध्यात्मिक ग्रन्थो से प्रभा-वित होकर दिगम्बर मे तेरापथ धारा चल निकली। वे जौनपुर से आगरा आये और वह धारा मुलतान तक जा पहुँची वहाँ के खरतर-गच्छीय श्रावकगण भी उसी अध्यात्म रस प्रवाह मे सराबोर हो गये। वहाँ चातुर्मास करने वाले सभी मुनिजन आध्यात्मिक साहित्य निर्माण करने लगे श्री धर्ममन्दिरजी ने स० १७२५ मे पाटण मे मुनिपति चरित्र रच कर मुलतान के चौमासो मे दयादीपिका, प्रबोध चितामणि—मोह विवेक रास, परमात्मप्रकाश चौपाई आत्मपद प्रकाश आदि रचनाए स० १७४०-४२ मे निर्मित की है। सुमतिरगजी का प्रबोध-चिन्तामणि रास-ज्ञानकला चौपाई की भी स० १७२२ मे मुलतान मे रचना की है। रगविलास कृत अध्यात्म कल्पद्रुम रास स० १७७७ मे रचित है। इन सभी कृतियो मे वहा के नवलखा भणशाली, सखवाल आदि श्रावको का नामोल्लेख है श्रीमद् देवचद्रजी महाराज का प्रचुर आध्या-त्मिक साहित्य हे जो मरोट-मुलतान आदि से प्रारभ हुआ है। उनकी आगमसार, द्रव्य प्रकाश आदि अनेक रचनाए प्रसिद्ध है।

खरतरगच्छ के जिनहर्षगणि भी पच महाव्रत धारी थे वे भी आनदघनजी-सत्यविजयजी के समकालीन थे, गुजरात मे अधिक विचरे और स्वर्गवास भी पाटण मे हुआ। समयसुन्दरोपाध्याय और उनकी शिष्य परम्परा मे विनयचद्र कवि भी अहमदाबाद मे विचरे थे। समकालीन विद्वानो मे जिनहर्षजी आदि के अतिरिक्त समयसुन्दर, हर्षनदन, जिनराजसूरि, गुणविनय, सहजकीर्ति श्रीवल्लभ, जयरग, लक्ष्मीवल्लभ, आदि का नाम भूल कर की बुद्धिसागरसूरिजी ने नही लिखा है। जब कि जैनेतर समकालीन व्यक्तियो के नाम दिए है। आनदघनजी के चौबीसी, बहुत्तरी के सबध मे हजारो पृष्ठ इस शताब्दी मे प्रकाशित हुए पर उनके सम्बन्ध मे जो अभिव्यक्ति हुई वह यह कि जो भी महापुरुष हुए वे गुजरात सोरठ और तपागच्छ मे ही हुए है। इस हठाग्रह के कारण असत्य कल्पनाए और गलत धारणाओ की परम्परा ही चल पडी। समयसुन्दरजी, देवचदजी, आनदघनजी आदि के सम्बन्ध मे यही बाते है उनके राजस्थान-मारवाड़ के होते हुए भी जब तक ऐतिहासिक प्रमाण न मिले गुजरात के लिखते गए। जब साचोर, बीकानेर और मेड़ता के प्रमाण सामने आ गए तब उन्हे सत्य ग्रहण आवश्यक हो गया।

उपनाम रखने की परम्परा हरिभद्रसूरिजी से चली आती है उन्होने अपनी कृतियो मे "भव विरह" शब्द का प्रयोग किया है। श्री उद्योतनसूरि ने अपनी सुप्रसिद्ध रचना 'कुवलय माला' मे अपना उपनाम "दाक्षिण्य चिह्न" लिखा है। श्रीजिनकुशलसूरिजी के शिष्य विनयप्रभोध्याय ने बोहिलाभ/बोधिलाभ शब्द प्रयुक्त किया है। लक्ष्मीवल्लभ ने 'राज कवि' और जिनहर्षगणि ने अनेकश "जसराज" नाम भी प्रयोग किया है। श्री आनदघनजी की दीक्षा नाम लाभानद था पर उन्हे जब आत्मानुभूति की अवस्था घनीभूत हो गई तब अपना योग नाम "आनदघन" रखा है और एक आध कृति के अतिरिक्त इसी नाम का प्रयोग किया है। कपूरचदजी ने अपना

नाम "चिदानन्द" प्रसिद्ध किया और उनके गुरु भाई ने अपना नाम ज्ञानानद प्रसिद्ध किया। दूसरे चिदानदजी (फकीरचद चैतन्य-सागर) ने भी पावापुरी मे 'चिदानद' नाम पाकर उसी का उपयोग किया। वर्त्तमान के सर्वोच्च महापुरुप श्री भद्रमुनिजी ने भी आत्मा की उस घनीभूत अवस्था मे पहुँचते अपना नाम छोड़ कर सहजानदघन असप्रदायी नाम प्रसिद्ध किया। यह प्रथा खरतरगच्छ मे ही पायी जाती है न कि तपागच्छ मे। यह भी आनंदघनजी खरतरगच्छ मे दीक्षित होने का प्रमाण है।

महापुरुष तपागच्छ मे ही हुए इस हठाग्रह के कारण जो तपागच्छ की उत्पत्ति से पूर्व हो गए उन्हे भी अन्य गच्छ मे होना स्वीकार्य नही। कदाग्रही धर्मसागरोपाध्याय जैसे विद्वान ने नवाङ्गी वृत्तिकारक श्री अभयदेवसूरिजी को भी खरतरगच्छ परपरा से अलग करने का असफल दुराग्रह किया। अभी सवेगरगशाला के (मूल) पत्राकार सस्करण पर भी उन्हे तपागच्छीय लिखा। श्री जिनकुशलसूरिजी के शिष्य विनय-प्रभोपाध्याय की रचना नरवर्मचरित्र मे प्रशस्ति ही प्रकाशित नही की जो कि स० १४११-१२ मे खभात मे रचित है इन्ही की अतिप्रसिद्ध रचना गौतमरास का रचयिता उदयवत या विजयभद्र लिख कर भ्रामकता पैदा की है रासकीगाथा ४३ मे स्पष्टतः "विणयपहु उवज्झाय थुणिज्जई" द्वारा विनयप्रभोपाध्याय का उल्लेख है। स० १०७० मे दिगम्बराचार्य अमितगति रचित धर्मपरीक्षा ग्रन्थ जो १९४१ पद्यो मे है—उसके २१४ पद्यो मे हेर फेर कर करके १४७४ पद्यो मे १२५० पद्य ज्यो के त्यो नकल करने का जघन्य कार्य किया है फिर भी उसमे अनेक बाते दिगम्बर मान्यता की रह गई है, उस ग्रन्थ को धर्मसागरोपाध्याय के शिष्य पद्मसागरजी ने अपनी कृति गर्व पूर्वक बतलाई है गुरु धर्म-सागर ने प्रवचन परीक्षा बनाई और मैने धर्मपरीक्षा रची। शत्रुंजय तलहटी स्थित सतीवाव जो बीकानेर के सेठ सतीदास द्वारा स० १६५७ मे बनाई गई थी उसे सभी इतिहासो मे अहमदाबाद के सेठ शातिदास

कारित लिखा है, मैने ४५ वर्ष पूर्व शिलालेख भी प्रकाशित किया पर संशोधन अद्यावधि न हुआ। आनदजी कल्याणजी की पेढी की स्थापना श्री देवचंद्रजी महाराज द्वारा हुई इस विषय मे मेरे पर्याप्त लिखने पर भी रतिलाल दीपचद देसाई ने पेढी के इतिहास में संशोधन नही किया। शत्रुंजयमहात्म्यकर्त्ता धनेश्वरसूरि का तपागच्छीय लिखना कहां तक उचित है वे 'चार सतोतरे हुआ धनेश्वरसूरि' पाचवीशताब्दी के माने जाते हैं और तपाच्छ स० १२८५—तेरहवीशती मे हुआ है। पद्मसागरसूरिजी ने अपने प्रवचन मे समयसुन्दरजी को हीरविजयसूरि शिष्य बतलाया है।

यह सब प्रसगोपात लिखने के पश्चात् अब श्री मोतीचद गिरधर कापडिया का श्री आनदघनजी ना पदो हाथ मे लेता हूँ। इसमे श्री चिदानदजी का नाम कपूरचद्र के स्थान मे कपूरविजय अनेकशः लिखा है। आनदघन चौबीसी के २२ वे स्तवन मे शका की है जो अनुचित है। पृ० ७८ मे ज्ञानविमलसूरि के परिचय मे खरतरगच्छीय कवि ज्ञानानदजी कृत ज्ञानविलास और सयमतरग नामक पदसग्रहो को ज्ञानविमलसूरि की रचना लिखी है। आगे चलकर पृ० १०३ मे आनदघनजी के समकालीन-ज्ञानविमलसूरिजी की उपर्युक्त दोनो पदसग्रह रचनाएँ बताते हुए पूरा, पद प्रकाशित किया है जिसमे "निधिसयम ज्ञानानद अनुभव" शब्दो द्वारा अपने गुरु व दादागुरु का नाम "निधिचारित्र" और अपना नाम ज्ञानानद स्पष्ट बतलाया है पृ० ५३३ मे फिर ज्ञान-विलास को ज्ञानविमलसूरि कृत बतलाते हुए उसमे विहाग राग का एक पद उद्धृत किया है जिसकी अतिम गाथा इस प्रकार है—

इन कारण जगमत पख छाडी, निधिचारित्र लहाय।
ज्ञानानद निज भावे निरखत, जग पाखड लहाय ।।५।।

चिदानदजी (कपूरचद) और ज्ञानानदजी (प्रेमचद) दोनो खरतरगच्छ परम्परा मे होते हुए इन्हे गलत समझा और गलत परिचय

दिया है, अतः इनकी गुरुपरपरा तथा विस्तृत परिचय यहाँ देना आवश्यक समझकर देता हूँ।

चिदानद ग्रन्थावली मे मैंने उनकी जीवनी-प्रस्तावना मे जो उनका विस्तृत परिचय दिया है तदनुसार इस प्रकार है। उनकी रचनाओं का भी विवरण वहाँ देखना चाहिए।

अकबर प्रतिबोधक श्री जिनचन्द्रसूरि-श्री जिनसिंहसूरि के पट्टधर

श्री जिनराजसूरि की शिष्य परंपरामे		आचार्य परपरामे
उपाध्याय रामविजय		जिनरगसूरि
उ० पद्महर्ष		जिनचन्द्रसूरि
वा० सुखनदन		जिनविमलसूरि
वा० कनकसागर		जिनललितसूरि
उ० महिमतिलक		जिनअक्षयसूरि
चित्रलब्धिकुमार		जिनचन्द्रसूरि
उ० नवनिधि (नढाजी)		जिननन्दीवर्द्धनसूरि
भाग्यनदि	चारित्रनदि (चुन्नीजी)	जिनजयशेखरसूरि
कपूरचन्द (कल्याणचारित्र)	प्रेमचन्द (प्रेमचारित्र)	जिनकल्याणसूरि
प्रसिद्धयोगनाम चिदानद	प्रसिद्ध योगनाम ज्ञानानंद	

यह परम्परा जिनरगसूरि शाखा, लखनऊ की आज्ञानुयायी थी। गिरनार दादावाड़ी मे चरणपादुकाएँ है तथा पहाड़ पर प्रेमचन्दजी की गुफा व सम्मेतशिखरजी में चिदानदजी की गुफा है। पावापुरी मे जिस कोठरी मे चिदानद कपूरचंदजी ने ध्यान किया था। पुजारी सोवन पाडे के बतलाने पर उसी स्थान मे १० दिन ध्यान कर फकीरचदजी ने चिदानद (द्वितीय) नाम पाया था।

अब श्री आनंदघनजी महाराज की रचनाओं पर अद्यावधि जिन विद्वानो ने विवेचन प्रकाशन किया, यथाज्ञात यहाँ लिखा जाता है।

१. आनदघन पद संग्रह भावार्थ श्रीमद् बुद्धिसागरसूरि द्वि० २०१० मू० १२-८ प्र० अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मडल बंबई (मणिलाल मो० पादराकर मत्री)

२. श्री आनदघनजी ना पदो भाग १ मोतीचद गिरधरलाल कापड़िया द्वि० २०१२ मू० ७-८
प्र० श्री महावीर विद्यालय ग्वालियाटेकरोड बबई—२६

३. श्री आनदघनजी ना पदो भाग २ स्व० मोतीचद गिरधर कापड़िया २०२० मू० १० स० रतिलाल दीपचंद देसाई प्र० उपरोक्त

४. आनदघन-ग्रन्थावली उमरावचद जैन जरगड़ स० महताबचद खारेड प्र० २०३१ मू० १० प्र० विजयचद जरगड़ जौहरीबजार जयपुर

५. अध्यात्म दर्शन (आनदघन चौवीसी तथा पद मग्न भाष्य सह मुनि नेमिचद्र प्र० १९७६
मू० १३ प्र० विश्व वात्सल्य प्रकाशन लोहामडी आगरा—२ उ० प्र०

६. आनदघन चौवीसी (हिन्दी विवेचन) मुनि श्री रत्नसेनविजयजी प्र० २०४१ मू० २० प्र० पद्म प्रकाशन अहमदावाद

७. अवधूत श्री आनदघन चौवीसी भावार्थ सह ले० रायचद अजाणी प्र० १९८७ पद ११० मूल

प्र० माणेकजी वेलजी खोना चेरीटेवल फाउडेशन ३० तिलकरोड घाटकोपर सपादको—नवीन घरमशी लक्ष्मीचद महेश्वरी बबई ७७

८. आनदघन का रहस्यवाद ले०—साध्वी सुदर्शनाश्री प्र० १९८४ मू० ४० स० डा० सागरमल जैन प्र० पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान वाराणसी—५

९. आनदघन चौवीसी प्रमोदायुक्त प्रभुदास बेचरदास पारेख द्वि० वृत्ति सन् १९५७ पृ० ४८० प्र० श्री जैन श्रेयस्कर मंडल म्हेसाणा

१० आनदघन चौवीसी विवे-मोतीचद गिरधर कापड़िया सन् १९७० मूल्य ८ रुपये प्र० श्री महावीर जैन विद्यालय बबई। इसमे ज्ञानविमलसूरि के टबा का आधुनिक भाषा मे विवेचन है।

११. आनदघन एक अध्ययन डा०—कुमारपाल देसाइ प्र० सन् १९८० प्र० आदर्श प्रकाशन जुम्मा मस्जिद सामे अहमदाबाद ३८०००१

१२. प्रशान्त वाहिता (पूर्वार्द्ध) द्वितीया वृत्ति, विवेचनकार श्री विजय भवनरत्नसूरीश्वर पृ० ५२४ इस पुस्तक मे आनंदघनजी के तपागच्छ या खरतरगच्छ में दीक्षा लेने के विवाद से सर्वथा अलग रखा है।

इनके अतिरिक्त मुनि सतबालजी ने आनंदघन चौवीसी का विवेचन भी लिखा जो प्रकाशित नही हुआ। श्री गब्बूलालजी का गुजराती अनुवाद मगलजी उधवजी ने स० २००० मे प्रकाशित किया। जीवनी के सबन्ध मे धीरजलाल टोकरसी शाह ने बाल ग्रन्थावली मे तथा वसन्तलाल कान्तिलाल ने स्वतन्त्र पुस्तिका लिखी थी।

डा० भगवानदास ने दूसरे स्तवन का विवेचन "दिव्य जिन मार्ग दर्शन" एव तीसरे का विवेचन "प्रभु सेवानी प्रथम भूमिका" नाम रखा और दोनो व परिशिष्ट में श्रीमद्जी का साथ मे देकर ३३२ पृष्ठो मे प्रकाशित किया है।

आगमप्रज्ञ मुनिराज श्री जम्बूविजयजी महाराज ने आनदघन चौवीसी के मूल पाठ शुद्धि के लिए पाँच-सात प्रतियो से पाठान्तर लेकर प्रकाशन प्रारभ किया और उसका प्रूफ भी हमारे पास भेजा था पर न मालूम वह कार्य उन्होने अधूरा ही क्यो छोड़ दिया, अन्यथा शुद्ध और प्राचीन पाठ का निर्णय प्रकाश मे आता। इस विषय मे

अधिक जानने के लिए आनदघन ग्रन्थावली मे श्री अगरचदजी नाहटा का प्रासगिक वक्तव्य देखना चाहिए।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, वाराणसी ५ से "आनन्दघन का रहस्यवाद" नामक साध्वी श्री सुदर्शनाश्री जी का शोध प्रबन्ध प्रकाशित हुआ है जिसमे द्वितीय अध्याय "व्यक्तित्व एव कृतित्व मे लिखा है कि श्री अगरचन्द नाहटा का (आनन्दघन ग्रन्थावली पृ० २१-२२ मे) कथन है कि आनन्दघन मूलतः खरतरगच्छ मे दीक्षित हुए और इसके लिए उनके द्वारा तीन प्रमाण दिये गए है।

प्रथम तर्क यह दिया गया है कि खरतरगच्छ के समर्थ आचार्य श्री जिनकृपाचन्द्रसूरिजी ने बुद्धिसागरसूरिजी को कहा था कि वे मूलतः खरतरगच्छ मे दीक्षित हुए है। लेकिन यह तर्क ठोस नही, क्योकि इसके लिए आचार्य कृपाचन्द्रसूरि ने कोई प्रामाणिक आधार प्रस्तुत नही किया है। आचार्य जिनकृपाचन्द्रसूरि द्वारा आचार्य बुद्धिसागरसूरि को बताये जाने के बावजूद स्वय आचार्य बुद्धिसागरसूरि ने लिखा है कि आनन्दघन तपागच्छ मे दीक्षित हुए थे और उनका नाम लाभानद था।

इसके सम्बन्ध मे मेरा यह कहना है कि जब कृपाचन्दसूरिजी से यह ज्ञात हो गया कि आनन्दघनजी का उपाश्रय और स्तूप भी मेड़ता मे है और आनन्दघनजी का उपाश्रय खरतरगच्छ का है एव उनकी परम्परा के यतिजन हाल मौजूद है तो यह बुद्धिसागरसूरिजी का कर्त्तव्य था कि वे मेड़ता मे खोज कराते कृपाचन्द्रसूरि तो कीर्तिरत्नसूरि शाखा के परम्परागत यति समुदाय मे से थे जिनके सभी यतिजनो की जानकारी थी, अवश्य ही वे क्रियोद्धार करने के पश्चात् वर्षो बीकानेर (राजस्थान) नही गये। वे जैनागम न्याय, ज्योतिप आदि सभी विषयो के प्रकाण्ड विद्वान थे पर बुद्धिसागरसूरिजी की भाँति शिलालेख और इतिहास शोध का कार्य उन्होने नही किया था। साधारणतया जानकारी दे दी इसे अमान्यकर अपने पूर्वाग्रह वश अपनी धारणानुसार

बुद्धिसागरसूरिजी ने मारवाड के न मान कर गुजरात-सौराष्ट्र का मान लिया। किन्तु कापडियाजी ने अपने ग्रन्थ मे उन्हे गुजरात सौराष्ट्र का न मान्यकर भाषा शास्त्र के आधार पर इस सम्बन्ध मे पर्याप्त लम्बा विवेचन किया है।

पन्यास गम्भीरविजयजी कापडियाजी के गुरु थे और उन्ही से अर्थ विवेचन करने मे पर्याप्त सहाय्य मिला था अतः उनके पूर्वाग्रह वश बुन्देलखण्ड के किसी नगर मे आनन्दघनजी का जन्म स्वीकार कर लिया और उनके अनुकरण मे रत्नसेनविजयजी आदि ने भी वही बात लिख दी।

आनन्दघनजी का दीक्षा नाम लाभानन्द था यह देवचन्दजी, ज्ञानसारजी आदि सभी को स्वीकार्य है पर बुद्धिसागरसूरिजी और कापड़ियाजी ने कही लाभविजय और लाभानन्दी लिखा है जो गलत है। शोध प्रबन्ध मे आगे लिखा है श्री अगरचन्द नाहटा दूसरा तर्क यह देते है कि आनन्दघन का मूलनाम लाभानन्द या लाभानन्द मे जो 'आनन्द' नन्दी (नामान्त पद) हे वह खरतरगच्छीय चौरासी नन्दियो मे पाया जाता है। उनका यह भी कथन है कि उन्नीसवी शती मे खर-तरगच्छ मे लाभानन्द नामक एक अन्य साधु हो चुके है। आशय यह कि खरतरगच्छ के अतिरिक्त अन्यगच्छ मे लाभानन्द नाम रखने की परम्परा नही रही है। इसी आधार पर उन्होने आनन्दघन को खरतर-गच्छीय परम्परा का सिद्ध किया है। किन्तु उनका यह तर्क ऐतिहा-सिक दृष्टि से समुचित नही कहा जा सकता, क्योकि 'आनन्द' नामान्त पद का प्रयोग तपागच्छ मे भी हुआ है। जैसे चिदानन्द, विजया-नन्द आदि।

यहाँ मेरा नम्रमत यह है कि नामान्त पद तपगच्छ की नन्दियो मे भी है पर प्रयोग जिस गच्छ मे अधिक हुआ हो जैसे 'विजय' नामान्त पद दोनो गच्छो मे होते हुए भी तपागच्छ मे अधिक प्रचलित हो गया।

यहाँ जो चिदानन्द, विजयानन्द का उदाहरण दिया वह सही नही है चिदानन्दजी खरतरगच्छ के थे उनका नाम कपूरचन्द और दीक्षानाम कल्याणचारित्र था चिदानद तो आनन्दघनजी की तरह योगनाम/उपनाम है। विजयानन्द नामान्त पद नही किन्तु विजयानन्दसूरि का दीक्षानाम आनन्दविजय था। तपगच्छ मे आचार्य पद होने पर 'विजय' नामान्त आगे कर देते है अतः दोनो उदाहरण निरर्थक है। उपनाम भी चिदानद, ज्ञानानद, दूसरे चिदानद, सहजानद आदि खरतरगच्छ परम्परा मे ही है। उपनाम परम्परा का तपागच्छ मे एक भी उदाहरण नही मिलता। पर तपगच्छ परम्परा का यह आग्रह रहा है कि जो भी महापुरुष हुए वे तपगच्छ मे और गुजरात मे हुए। भले ही वे राजस्थान आदि मे जन्मे हो या अन्य गच्छ मे हुए हो। ज्ञानानदजी को जो चिदानद जी के गुरु भ्राता थे, चिदानदजी जो सौ-सवा सौ वर्ष पूर्व विद्यमान थे कापड़ियाजी ने इन्हे तपागच्छ का मान लिया और ज्ञानानदजी की कृतियाँ ज्ञानविलास और सयमतरग को ज्ञानविमलसूरि (१६९४-१७८२) की रचना मान कर उनके पदो के उद्धरण दिये। इन दोनो का परिचय आगे पृ० २७ मे दे चुका हूँ।

तीसरा तर्क वे यह देते है कि मेड़ता से उपाध्याय पुण्यकलश मुनि जयरग, चारित्रचद आदि द्वारा एक पत्र सूरत मे विराजित खरतरगच्छ के पूज्य श्री जिनचद्रसूरि को भेजा गया। उसमे आनदघनजी के सम्ब्रन्ध मे निम्नलिखित उल्लेख मिलता है—

"प० सुगनचद्र अष्टसहस्री लाभानद आगइ भणइ छइ। अर्द्धरइ टाणइ भणी। घणुं खुसी हुई भणावइ छइ"।

यह पत्र नाहटाजी को आगम प्रभाकर मुनि पुण्यविजयजी के पास देखने को मिला था। मुनि पुण्यविजयजी के समस्त पत्रो का सग्रह अहमदाबाद के श्रीलालभाई दलपत भाई (ला० द० भा०) सस्कृति विद्यामन्दिर मे सुरक्षित है, लेकिन नाहटा द्वारा उल्लिखित कोई पत्र

उसमे नही है।" पत्र न मिलने पर श्री अगरचद नाहटा जैसे विद्वान के लिखे प्रमाण को चुनौती नही दी ज़ा सकती। आज तक हमारे पचासो ग्रन्थो और छ हजार निबन्ध/लेखो को कोई अप्रमाणित नही कर सका। काकाजी श्री अगरचदजी ने जेसलमेर में उनके पास देखा था। खाली अवतरण दिया है नकल की या नही, अब वे रहे नही अतः हमारे सग्रह—समुद्र से पता लगाना असभव है।

श्री पुण्यविजयजी महाराज वहा से बीकानेर पधारे थे और उपाध्याय विनयसागरजी (अब महोपाध्याय) को उनके साथ अभ्यास हेतु भेजा गया था वे उनके साथ काफी रहे थे। मुनिश्री ने वह पत्र विनयसागरजी को दे दिया था जो उन्होने अपने सग्रह—कोटा मे रखा था। अभी उनके पयू षण पर पधारने पर वह पत्र उनके सग्रह मे ज्ञात हुआ, पर अभी खोजने पर नही मिला तो भविष्य मे खोज कर मिलने पर प्रकाश डाला जा सकेगा। पर यहाँ पर इस अवतरण पर विस्तृत प्रकाश डालने का प्रयत्न करता हू ँ।

श्री जिनचद्रसूरि—इन्हे सूरत चौमासे मे मेड़ता से पुण्यकलशोपाध्याय, जयरग, चारित्रचद आदि ने पत्र भेजा था। ये गणधर चोपड़ा आसकरण-सुपियारदेवी के पुत्र थे इनका नाम हेमराज था स० १७०७ वैशाख शुक्ल ३ को श्री जिनरत्नसूरि ने जेसलमेर मे दीक्षित कर हर्षलाभ नाम दिया था। स० १७११ मे भादव बदि १० को आचार्य पद स्थापना नाहटा जयमल तेजसी की माता कस्तूर बाई कृत महोत्सव पूर्वक राजनगर मे हुई, जिनचदसूरि नाम प्रसिद्ध हुआ। स० १७६३ सूरत मे स्वर्गवास हुआ। अत यह पत्र स० १७११ मे या उसके पश्चात् किस सवत् मिती मे दिया था, मिलने पर ज्ञात होगा। इन्होने अपने शासन काल मे ३९ नदियो मे प्रचुर दीक्षाए दी थी। एव साध्वाचार मे शिथिलता न आ सके इसके लिए नियम प्रसारित किए थे जो हमारे सग्रह में है। जोधपुर के शाह मनोहरदास के सघ सह शत्रुजय यात्रा

की और उनके द्वारा मडोवर मे निर्मापित चैत्य शृ गार-२४ तीर्थंकरो की प्रतिष्ठा की ।

उ० पुण्यकलश—अकबर प्रतिबोधक श्री जिनचद्रसूरिजी ने ४४ नन्दियो मे मुनियों को दीक्षा दी थी जिनमे यह (कलश) अतिम नदी है। उनका स्वर्गवास स० १६७० बीलाडा मे हुआ था। उस से पूर्व ये दीक्षित हो चुके थे। श्री जिनभद्रसूरि शिष्य परम्परा मे समयध्वज ज्ञानमदिर—गुणशेखर नयरग शि० धर्ममन्दिर वाचक के ये शिष्य थे। स० १६८९ मे इन्होने बाड़मेर मे साध्वी ज्ञानसिद्धि-धनसिद्धि के लिए नवतत्व स्तबक लिखा जो जेन विद्याशाला, अहमदावाद मे है। श्री जिनचंद्रसूरिजी ने स० १७११ चैत्री पूनम के दिन राजनगर मे इनके कई प्रशिष्यो को दीक्षा दी—

पूर्वनाम	दीक्षानाम	
प० कल्ला	सकलचद	
पं० चापा	चारित्रचद	स० १७२३ उत्तराध्ययन दीपिका व दशवैकालिक स्तबक लिखा
प० ताल्हा	तिलकचद	
प० गोदा	सुगुणचद	इन्होने लाभानद (आनदघन) के पास मेड़ता मे अष्टसहस्री का अध्ययन किया एव स० १७३६ जेसलमेर मे ध्यानशतक बालावबोध रचा। जो यति सूयमल सग्रह मे है।

मो० द० देसाई महोदय ने शातिहर्ष-जिनहर्ष को जिनचद्रसूरि की परम्परा मे लिखा है वे ६५ वे पाट के नही थे क्योकि इन से पहले ही वे दीक्षित थे और कृतिया भी मिलती है तो जैनरासमाला पृ० ४४ मे उनका परिचय देना गलत है, वे क्षेम शाखा के थे। और ६५ वे पाट जिनचद्रसूरि के आज्ञानुवर्ती थे।

सुगुणचद के शिष्य हेमविजय तथा चारित्रचद्र के शिष्य जयविजय की दीक्षा स० १७५५ माघ बदि ६ को सादड़ी मे हुई थी। श्री जयरंग (जैतसी) आदि उ० पुण्यकलश के शिष्यो की दीक्षा पहले हो चुकी थी। स० १७०७ से ही दीक्षा नन्दी सूची उपलब्ध है। जयरग की अमरसेन वयरसेन चौ० स० १७०० दीवाली जेसलमेर एवं सं० १७२१ का कयवन्ना रास बीकानेर मे रचित है। दस श्रावको के गीत एव दश-वैकालिक सर्व अध्ययन गीत स० १७०७ मे रचित है।

अब खरतरगच्छ मे 'आनद' नामान्त मे दीक्षित यति-मुनियो की सक्षिप्त सूची दी जा रही है। चूरु की दादावाड़ी मे मुनि ज्ञानानदजी के चरण है तथा बीकानेर बैंदो के महावीर जिनालय मे स० १८७९ चैत्री पूनम को मुनि ज्ञानानद प्रतिष्ठित दुरितारि विजययत्र है। ये उपाध्याय श्री क्षमाकल्याणजी के शिष्य थे। यन्त्र प० महिमाभक्ति लिखित है। बीकानेर मे उनकी परम्परा मे धर्मानदजी का उपाश्रय कहलाता है। क्षेम शाखा के उ० सदानद शिष्य सौभाग्यचद्र लिखित जिनहर्ष कृत श्रीपाल रास की प्रति कच्छ के मुनराबदर मे लिखी प्राप्त है (जैन गूर्जरकविओ पृ० ८७)

हमे जो दफ्तर प्राप्त है उसमे पूर्व नाम गुरुनाम आदि सब उल्लेख है। लेख विस्तारभय से केवल नाम सूची देता हूँ। स० १७२८ पोप बदि ७ बीकानेर में 'आनद' नामान्त जिनचद्रसूरि द्वारा दीक्षित—

१ सदानद, २ सुखानद, ३ गजानद, ४ नयनानद, ५ महिमानद, ६ युक्तानद। स० १८०२ जीर्ण दुर्ग (जूनागढ) मे दीक्षित—(वै० सु० ४)

१ सदानद, २ हर्षानंद, ३ दयानद, ४ ज्ञानानद ५ क्षमानद ६ महिमानद ७ सुखानद। स० १८५६ मा० सु० १३ सूरत मे जिनहर्षसूरि द्वारा दीक्षित—

१ हेमानद २ भाग्यानंद ३ दयानद ४ उदयानद ५ रत्नानद ६ गुणानद ७ ज्ञानानद ८ राजानद ९ क्षमानद १० अभयानद

११ लाभानद १२ सहजानद १३ विद्यानद १४ अमृतानद १५ क्षेमानद १६ दर्शनानद १७ गजानंद १८ विजयानद १९ महिमानद २० ज्ञानानद २१ सुगुणानद २२ भाग्यानद २३ कमलानद २४ नित्यानद २५ जयानद २६ क्षेमानद ।

स० १९४३ आश्विन शु० १० जयपुर मे—१ महिमानद २ कृष्णानद ३ रत्नानद ४ ज्ञानानद

स० १९४५ जयपुर मे १ पूर्णानद। स० १९४६ १ गजानंद। स० १९५२ रतलाम मे १ सदानद २ रामानद ३ देवानद ४ कनकानद ५ दयानद ६ सत्यानद ७ क्षमानद ८ मेघानद इनके शिष्यादि भिन्ननदी मे होने से नाम नही दिए है। लगभग ५० नाम हो गए है।

साहित्यकार/ग्रन्थकारो का नाम देने से हेमानद, विनयानद, सदानद, चिदानद आदि अनेक है और उनकी रचनाए भी है। प्राचीन साहित्य मे खोजने पर और भी बहुत मिलेगे।

ऊपर महाप्रबन्ध गत तीनो बातो का स्पष्टीकरण कर दिया गया है। आगे लिखा गया है कि दीक्षा नाम लाभानद था लिखा सो यह नाम किसे अस्वीकार है। खरतरगच्छ साहित्य मे देवचद्रजी ज्ञानसारजी आदि सभी को यह पूर्व नाम स्वीकार है। [श्री विजयानदसूरि (आत्मारामजी) ने जो लिखा है कि सत्यविजयजी ने क्रियोद्धार किया और वर्षों तक आनदघनजी के साथ वनवास मे रहे लिखना सर्वथा अप्रामाणिक है। उनके निर्वाण के एक मास बाद बने जिनहर्ष कवि कृत रास मे इसका कही भी उल्लेख नही है। यह सब बाद की कल्पना सृष्टि है। आनदघनजी की कृतियो मे एक पद तो 'लाभानद' नाम से भी संप्राप्त है।

श्री मोतीचद्र कापड़िया के मतानुसार सत्यविजयजी ने पन्यास पद के बाद ही क्रियोद्धार किया था। पन्यास पद उन्हे स० १७२९ मे मिला था। इधर स० १७३१ मे मेड़ता मे श्री आनदघनजी का निधन

हो गया था तो वे उनके साथ मे कहाँ विचरे ? श्री लल्लु भाई कर्मचद स्वय इसी ग्रन्थ की द्वितीयावृत्ति के निवेदन पृ० १९ मे (२) 'तप गच्छ मा दीक्षित यथा हता' के उल्लेख के सम्बन्ध मे शकास्पद थे। इसी कारण फुटनोट मे "आ माटे वधु तपासनी जरूर जणाय छे" लिखा है। इसका आशय यही है कि बुद्धिसागरसूरिजी के अपने विचारो को बिना पृथक् करण किये ही लिख दिया करते थे जिस की आलोचना का एक अश ऊपर उद्धृत कर ही चुका हूँ।

उपाध्याय यशोविजयजी गुणग्राहक थे। उन्होने अष्टपदी रचना की और उनका आनदघनजी के साथ जो प्रेम सम्बन्ध था, वह हमे पूर्णतः मान्य है। इसके अतिरिक्त न तो ज्ञानविमलसूरि कभी आनद-घनजी से मिले और न कोई अन्य तपगच्छ के विद्वानो से आनदघनजी का सम्पर्क ही हुआ। बुद्धिसागरसूरिजी ने जो भी सारी मनगढन्त बाते एव सगत असगत लोकोक्तियाँ को स्थान देकर जीवन चरित्र के प्रति न्याय दृष्टि नही रखी है। अध्यात्म, द्रव्याणुयोग की शास्त्र मान्यताए उनके अधिकार पूर्ण विषय थे, उसी मे उन्हे सीमित रहना था। जहाँ उनकी जीवनी की बाते प्रामाणिक रूप से कोई नही मिलती वहाँ पाँखे फैला कर उडान करना समीचीन नही लगता।

सत्यविजय निर्वाण रास मे 'सवालख देश का लाडलुं गाँव लिखा है, उसे मालव मे मानना देसाईजी की भूल है। सवालख देश नागौर के आस पास का प्रदेश है, अतः वर्त्तमान लाडणुं ही लाडलुं है जो नागोर परगने मे है और सवालख देश का यह प्राचीन नगर है। रास मे सेठ वीरचद-वीरमदे के प्रभु शिवराज को "एकोपिणि सहसा समु जे राखे घर नु सूत्र" लिखकर "एक ही हजार जसा" इकलौता पुत्र लिखा है। आनदघनजी को सत्यविजयजो का लघु बन्धु लिखना ढाई सौ तीन सौ वर्ष वाद की कल्पना सृष्टि है अतः किसी भी प्रकार मान्य नही हो सकती।

आनदघनजी के देहोत्सर्ग के सम्बन्ध में 'निजानंद चरित्र' के उल्लेख पर शका नही की जा सकती। पक्ष-विपक्ष की बाते, शास्त्रार्थ की बातो मे हमेशा मतभेद और विपक्षी को हेय दृष्टि से प्रदर्शित करना असभव नही, पर देहोत्सर्ग की बात विश्वसनीय ही है, क्योकि उस समय कोई दूसरे लाभानदजी नही थे। वे वृद्धावस्था मे मेडता मे रहने लगे इसमे दो मत नही है। जहाँ उनके जीवन का अधिकाश भाग बीता हो तो परिचय मे आने वाले सभी उसी नाम से पहचानते है। अत जो लोग सत्यविजयजी के चिर सग रहने या यशोविजयजी के चिर सग रहने या यशोविजयजी के बाद आनदघनजी के देहोत्सर्ग की कल्पना करते है वे कुछ पूर्वाग्रह ग्रस्त मालूम देते है।

निष्पक्ष व्यक्तियो का कर्त्तव्य है कि बिना प्रमाण की बातो को विश्वस्त न माने और गहराई से विचार करे। खरतरगच्छ की उदारता प्रसिद्ध है। गुणग्राहकता के कारण अन्य गच्छ के महापुरुषो के वर्णन मे काव्य, रास, चौपाई, गीत आदि पर्याप्त लिखे। श्रीवल्लभोपाध्याय का विजयदेवसूरि महात्म्य (महाकाव्य) सिद्धसूरिजी के कथन से उपकेश शब्द व्युत्पत्ति, समयसुन्दरोपाध्याय का पुजा ऋषि रास, भट्टारकत्रय गीत, जिनहर्षगणि कृत सत्यविजय पन्यास रास आदि ग्रन्थ उसी समय के है। जैनेतर ग्रन्थो पर खरतरगच्छीय विद्वानो की प्रचुर टीकाए उपलब्ध है। तपागच्छ मे उपाध्याय यशोविजयजी गुणग्राहक और उच्चकोटि के विद्वान थे जिन्होने आनदघनजी से सौहार्द पूर्वक मिलकर अष्टपदी की रचना की थी।

खरतरगच्छ की प्राचीन दफ्तर बहिये नही मिलती। सं० १७०७ से दीक्षा नदी सूची मिली है, इससे पूर्व की मिल जाती तो समस्या हल हो जाती। आनदघनजी की दीक्षा सं० १६७० तक तो नही हुई थी। श्री जिनचद्रसूरिजी की स्थापित ४४ नन्दियो मे अतिम नदी 'कलश' उपरि वर्णित है। उनके पट्टधर श्री जिनसिंहसूरि ४ वर्ष बाद ही मेड़ता मे स्वर्ग वासी हो गए। इनके पट्ट पर समर्थ विद्वान भट्टारक श्री जिन-

राजसूरि और आचार्य पद पर श्री जिनसागरसूरि आरूढ हुए। स० १६७४ मे मेड़ता मे ही पट्टोत्सव हुआ। इनका जन्म १६४७, दीक्षा १६५७, वाचक पद १६६७ मे हुआ था। तीक्ष्ण बुद्धि वाले होने से बाल्यकाल मे ही शास्त्रो के पारगत हो गए और १३ वर्ष की अवस्था मे आगरा मे चिन्तामणि तर्कशास्त्र पढ लिया था। मेड़ता के ही अधिवासी आनदघनजी थे और सं० १६७४ मे ही श्री जिनराजसूरिजी के पास सम्पर्क मे अधिक आये हो, सभावना की जा सकती है। मेड़ता मे चोपड़ा आसकरण ने यह पट्टोत्सव किया था और वहाँ से पहले शत्रुजयादितीर्थो का सघ भी निकाला था। सं० १६७७ में शान्तिनाथजिनालय की प्रतिष्ठा भी मेड़ता मे कराई थी। अतः उस समय उनकी दीक्षा भी असम्भव नही, मेरा अनुमान है उस समय इन्हे सत्संग का सबल सयोग मिला। दीक्षा के अनतर जिनराजसूरि और समयसुन्दरजी के शिष्य हर्षनदन के पास इन्होने (लाभानद ने) शास्त्राभ्यास किया होगा।

जिनराजसूरि उच्चकोटि के विद्वान थे उन्होने हिन्दी मे बहुत सौ पद रचना की थी। इनके ४१ शिष्य-प्रशिष्य थे। इन्होने ६ को उपाध्याय पद दिए थे जिनमे उपयु`क्त महोपाध्याय पुण्यकलश भी होगे। इन सभी बातो का निश्चित समाधान प्राचीन इतिहास एव अप्राप्त दफ्तर बहिये, जो समाज की असावधानी से लुप्त हो गए। प्राप्त हुए बिना सिलसिलेवार इतिवृत्त लिखा नही जा सकता। पर आनदघनजी खरतरगच्छ मे दीक्षित हुए इस मे कोई सशय नही रह जाता।

श्री जिनचद्रसूरिजी के शिष्य लालकलश थे जिनके शिष्य ज्ञानसागर के शिष्य कमलहर्ष लिखित सारस्वत व्याकरण की पुन्जराजी टीका पत्र १११ श्री पूज्यजी के सग्रह मे है। 'कलश' नदी में दीक्षित प्रशिष्य क्षेमकलश के शि० महिमासागर के शिष्य सुप्रसिद्ध आनदवर्द्धन सुकवि थे जिनकी चौबीसी, भक्तामर-भाषा, कल्याण मदिर भाषा, स्तवन पदादि तथा अरहन्नक चौपाई आदि कृतियाँ उपलब्ध है।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ मे उठाये गये प्रश्नो का सक्षिप्त समाधान हो जायगा।

योगिराज श्री आनदघनजी महाराज ने जिनस्तवन बावीसी मे तात्विक विषयो का जो निरूपण किया है वह गुरुदेव के प्रस्तुत विवेचनानुसार निम्नोक्त प्रकार है .—

१ पराभक्ति
२ अजितपथ यथाख्यात चारित्र
३ अन्तर्दृष्टि साधना रहस्य
४ सम्प्रदायो मे जैन दर्शन का अभाव
५ आत्म समर्पण रहस्य
६ परमात्मा के प्रति अतरात्मा की पुकार
७ भगवान के विविध नाम रूपो का रहस्य
८. भवान्तर दर्शन और सजीवन मूर्ति के प्रत्यक्ष योग की कामना
९. अनुभव और आगम प्रमाण से मन्दिर और मूर्त्तिपूजा का रहस्य
१०. अनेकान्तवाद तो समन्वयवाद है, सशयवाद नही।
११. आध्यात्म रहस्य
१२. आत्मज्ञान की कुजी
१३ भक्तिमार्ग की प्रधानता और रहस्य
१४. चारित्र का पारमार्थिक रहस्य
१५ धर्म का मर्म
१६ शान्ति का स्वरूप
१७ मन की दुराराध्यता
१८ स्वसमय-परसमय/जड़ चेतन भेद विज्ञान/द्रव्य पर्याय भेद रहस्य
१९. अन्य सभी लोगो से आदर पाने वाले अठारह दोषो का दूर निवारण
२०. विविध आत्म तत्त्व-जिज्ञासा-समाधान
२१. षट दर्शन की विशाल समन्वयात्मक दृष्टि निरूपण
२२ राजिमती उपालंभ मनोभाव और अनुगामित्व

श्रीमद् राजचद्र जैसे ज्ञानावतार महापुरुष ने भी आनदघन चौवीसी का अर्थ लिखना प्रारम्भ तो किया था पर वह पूर्ण नही हो

सका था। वैसे पडित लालन आदि ने भी किया था ऐसा सुना है पर देखने मे नही आया। इस युग के मूर्धन्य आत्मद्रष्टा योगीन्द्र युगप्रधान सद्गुरु श्री सहजानदघनजी महाराज ने अपने प्रवचनो मे आनदघनजी के स्तवनो पर पर्याप्त विवेचन किया था, पर किसी ने उसका टेप-रिकार्ड या लेखन नही किया। जब आप बीकानेर उदरामसर धोरा गुफा मे थे तब सतरह स्तवनो तक विवेचन लिखा था। काकाजी अगरचदजी की सतत प्रार्थना/प्रेरणा थी पर अपनी आत्म/साधना मे लगे रहने से अवकाश निकाल कर वे लेखन कार्य पूरा न कर सके। उनके चिन्तन मे आगे बढने पर उन्हे नई-नई स्फुरणाएं और अनुभूतियाँ होती जिससे आगे का लेखन फीका मालूम होता। उन्होने हमे एव अन्य मुमुक्षुओ को पत्रो मे इस सम्बन्ध मे जो समाचार दिए उनका सारांश यहाँ दे रहा हूँ।

आनन्दघन चौवीसी का विवेचन मैं अपने ढग से करता जाता हूँ जिसका किसी अन्य कृति से मेल नही बैठेगा। मेरी पद्धति अनोखी है, बहुत गहन विचार कर स्वपर प्रेरक ढग से लिखता हूँ। ऐतिहासिक संशोधन पूर्वक पाठ लेता हूँ जो कि प्रचलित पाठो से कुछ भिन्न पड़-जाएँगे, किन्तु बहुत उपयोगी होगे। चौदहवे स्तवन का विवेचन ११ फुलिस्केप पृष्ठो मे, नौवाँ ९ पृष्ठ जितना हुआ है नौवे मे अष्ट द्रव्यो का जो अनुभव क्रम लिखा है वह कही पढा नही, फिर भो अनुभव गम्य है। मनुष्य देह को जिनालय की तुलना मन्दिर रचना के अनुभव क्रम मे चित्रित किया है, मुद्रित होने पर बहुतो को सहायक होगा।

आनंदघन साहित्य विषय मे × × जहाँ विचारने बठूं नित्य नयी स्फुरणा होती है। धोरा मे लिखे अर्थ अभी की समझ मे मामूली लगते है जिससे अभी रुकने की प्रवृत्ति हो जाती है। जब तक पूर्ण ज्ञान न हो एक अक्षर भी बोलने मे जोखम है। तीर्थंकरादि महापुरुष छद्मस्थ दशा मे मौन रहते थे। दूसरे नयानुसार ऐसी प्रवृत्ति से ज्ञान का

क्षयोपशम बढता है अत पत्रारूढ करना हानिकारक नही, यह भी सत्य है। × × अमुक समय साधना में बीतता है अत· अवकाश कम है, बाकी अरुचि नही है।

मेरा बहुत सा समय साधन मे बीतता है, अत. लेखन क्रिया मे चित्त नही लगता। भावना तो बहुत है कि आपका कार्य पूर्ण कर दूँ, किन्तु कर नही पाता। विशेष अनुभूतियो को पत्रारूढ करके किंवा व्यक्त करने मे दत्त गुरुदेव सम्मत नही हैं। उनका कहना है कि बहुत विषम काल है। जीवो की वृत्ति भौतिकता के पीछे घुड़दौड़ कर रही है। अनुभव मार्ग के अधिकारी नही से हैं। अत. अलौकिक बातो को न समझने के कारण अर्थ का अनर्थ होना स्वाभाविक है। इसलिए सब कुछ गुप्त कर दो, समझ कर शमालो।

मैं आजकल बाबा आनदघन कृत चौवीस जिनस्तवनो का हिन्दी मे विवेचन लिख रहा हूँ। इनकी विचार धारा धर्म क्रान्ति और अनुभव बल से अलकृत है। जैन दर्शन किंवा धर्म की अनुभव-शून्यता के प्रति उनके हृदय मे बड़ा भारी दुख रहा है जिसे पदो द्वारा व्यक्त भी किया है जो अनुभवशून्यता दि० श्वे० उभय सप्रदायो में अधिकतर दिख रही है। जैन दर्शन विषयक दिमागी कसरत जोरो से प्रचलित हो रही है पर जैन धर्म विषयक हृदय की कसरत नहीवत् रह गयी है। हृदय की कसरत से तन्दुरुस्ती पाये बिना कोरी दिमागी कसरत अनुभव पथ मे प्रवेश नही करा पाती, ऐसा कहना अनुचित न होगा।

मुनि श्री आनन्दघनविजयजी (वर्तमान मे आचार्य श्रीविजय आनन्दघनसूरि महाराज गुरुदेव श्री सहजानन्दघनजी महाराज के परम भक्त और साधनाशील महापुरुष हैं। उनकी शकाओ का समाधान और साधना मार्ग मे आगे बढने के लिए मार्गदर्शन हेतु प्रचुर पत्र व्यवहार हुआ करता था। आनन्दघनजी की जीवनी सबधी जो बाते उन्हे गुरुदेव ने लिखी थी वे इस प्रकार है :—

"आनन्दघनजी विपयक अत्यारे गमे तेम कल्पना करातो होय छता दिव्यशक्ति थी आ आत्मा ने एम जणायुं छे के तेओ मेड़तामा नगर-सेठ ना उपालभ थी वस्त्र पात्र शास्त्रादि बधु त्यागी दिगम्बर पणे शहेर छोडी जगलमा चाल्या गया त्यारे तेमना अतरग भक्तो पण पाछल पाछल गया, तेओ खड्गासने ध्यान मा हता त्यारे भक्तो ए तेमनी कमरे कोपीन बाधी दीधी अने काउसग्ग छोडचा वाद ते विषे श्री आनन्दघनजीए पण विरोध न कर्यो पण रहेवा दीधी, आहार कर-पात्र मा एक वार लेता, ठाम चौविहार। काचु पाणी तो अडेज शाना। आहार क्वचित् भक्तो पासे थी जगल माज प्राप्त करता, अथवा ते अर्थे समीप ना गामोमा जता, अतिम काले कोपीन ने पण त्यागो अणसण करी महाविदेह वासी थया। आथी अधिक लखवानी स्फुरणा नथी माटे अेटलाथी सतोष मानजो।

अब तक जो भी आनन्दघन जी का अध्ययन हुआ, अपने अपने क्षयोपशम के अनुसार किसी ने चालीस वर्ष अध्ययन किया किसी ने कुछ वर्ष और किसी ने २३ दिन मे है पुस्तक लिख डाली इन महापुरुष पर अध्ययन कर लिखने वाले सभी धन्यवादार्ह है। जो जितनी गहराई से चिन्तन कर सका उसने उतने ही बहुमूल्य रत्न पाये। मस्तिष्क की उडान और हृदय की अनुभूतियो मे रात दिन का अन्तर होता है। आत्मलक्षी चिन्तन मानव को अतीन्द्रिय ज्ञान मे अधिष्ठित कर उन महापुरुप से हृदय के वेतार तारो से जोडने मे सक्षम हो जाता है। गुरुदेव श्री सहजानन्दघनजी महाराज ने जितनी गहराई मे चिन्तन किया था यदि पूर्ण रूपेण लिपिबद्ध कर पाते तो अभूतपूर्व आत्मानु-भूति मण्डित वस्तु होती किन्तु जो कुछ भी उपलब्ध हुआ, हमारा सौभाग्य है। क्योकि हमारी आत्म-जागृति मे प्रकाश स्तभ की भाँति पथ प्रदर्शन करता रहेगा। गुरुदेव ने जो स्तवनो के मूल पाठ निर्धारित किये थे वे भी प्राप्त नही हुए यदि हम्पी मे कही हस्तगत हो गए तो उन्हे अवश्य प्रकाश मे लाया जायेगा।

चौवीसी के सतरह स्तवनो का अर्थ विवेचन करने मे गुरुदेव ने गहन चिन्तन द्वारा जो आत्मानुभूति व्यक्त की, उनकी अनोखी मौलिक शैली है। श्रद्धा, सुमति, विवेक, जिज्ञासु, आकाशवाणी, सतसगी, अन्तरात्मा, अनुभूति, विभिन्न सप्रदायो के दार्शनिक विद्वान, दशनामी सप्रदाय के सदस्यो की चर्चा आदि के माध्यम से उन्होने जो अनुभूतिया व्यक्त की, अद्भुत है।

धर्मनाथ स्वामी के स्तवन के विवेचन मे लिखा है कि वे स्वय (आनन्दघन) सप्रदाय-जाल मे फॅसकर क्रियावन मे घुड दौड़ करने के पश्चात् कुछ भी पल्ले न पड़ने पर गहराई से चिन्तन करते रहे। अन्तर्लक्ष जमते ही जातिस्मरण होने, और पूर्वजन्म मे जैन साधु होने, तीर्थंकर निश्रा मे वीतराग मार्ग की आराधना करने का क्रम स्मृति मे आने से सांप्रदायिक जाल से मुक्त हो प्रभु कृपा से उन्होने अपना परम निधान प्राप्त कर लिया।

शान्तिनाथ स्वामी के स्तवन के विवेचन मे मुमुक्षु द्वारा आत्म शान्ति का उपाय पूछने पर उसे ऐसे पारमार्थिक प्रश्न उठने पर धन्यवाद देते हुए स्वानुभूति व्यक्त करते कहा है कि मेरे हृदय मे ऐसे प्रश्न उठते, समाधान के लिए छटपटाता रहता। ग्राम वासी लोग मुझे 'यति' नाम से पुकारा करते। इस शरीर की जन्मभूमि मे शान्ति-नाथ भगवान का जिनालय था जहाँ नित्य नियमित दशन-पूजन करता। एक दिन रोते-रोते विह्वल प्रार्थना मे बेहोश हो गया तो हृदय प्रदेश मे प्रभु की साकार मूर्त्ति प्रकट होने और समाधान पाने का विस्तृत वर्णन ही स्तवन मे लिपिबद्ध किया लिखा है।

इस स्तवन के विवेचन की प्रारभिक भूमिका मे जो स्वानुभूति। अपनी जीवनी प्रकट करते हुए बतलाया है कि मेरे प्रश्नो का समाधान मिल जाने पर मै होश मे आकर नाच उठा और घर जाकर पारि-वारिक मण्डली को समझा बुझाकर मैंने क्षमा आदि दशविध यति धर्म

की दीक्षा लेली और सचमुच यतिबन गया। गुरुदेव ने भी मेरे अन्तरानन्द की छाया को देखकर मेरानाम भी 'लाभानन्द' जाहिर किया। फिर प्रभु के आशीर्वाद से अपनी आत्मा मे सर्वाग प्रकाश होने से आनन्द की गगा मे बहकर चैतन्य सागर मे तद्रूप हो गया। इस अपूर्वकरण के फल स्वरूप नारियल मे रहे हुए सूखे गोले की तरह अन्तर्मुहुत तक वह निवृत्ति अपार रही। इस अनिवृत्ति करण मे मुझे आत्म स्वरूप की झाँकी हो गई, मैं कृतकृत्य हो गया। (इस स्वानुभूति का आनन्द प्राप्त करने के लिए विवेचन को बारबार हृदयगम करना चाहिए।)

इस आत्म जीवनी के अनुसार जन्मभूमि मेड़ता मे शान्तिनाथ जिनालय मे, प्रतिदिन दर्शन पूजन करने की बात लिखी है। वहाँ शान्तिनाथ भगवान के दो मदिर है। आनन्दजी कल्याणजी पेढी के प्रकाशन मे नं० २२ ६० मे चोपड़ो के मुहल्ले मे स० १६७७ मे जिनराजसूरिजी द्वारा प्रतिष्ठित मदिर है और दूसरा न० २२९९ मुता की पोल मे है जहाँ १८ पापाण की और १६ धातु प्रतिमाएँ है। प्रथम मदिर मे ८ पाषाण प्रतिमाएँ है। मुता के पोल वाले मदिर का प्रतिष्ठा सवत उल्लिखित नही है यदि चोपड़ो द्वारा निर्मापित शातिनाथ जिनालय मे आनन्दघनजी अपने गृहस्थावस्था मे पूजा करते होतो पहले से ही आत्म चिन्तन चलता था और समाज उनकी धार्मिक वृत्तियो के कारण 'यति' कहा करता था। इस हिसाब से जिनराजसूरिजी ने विजय नदी के बाद अर्थात् १६७८ फाल्गुन सुदि ७ को रगविजय, मानविजय रामविजय आदि को दीक्षा देने के बाद 'आनन्द' नन्दी मे लाभानन्दजी को दीक्षित किया हो। इन सहदीक्षितो मे मानविजय बीकानेर (जिनरत्नसूरि) के आज्ञानुवर्त्ती और रामविजय लखनऊ (जिनरगसूरि) के आज्ञानुयायी रहे जिनकी परम्परा मे चिदानन्दजी एव ज्ञानानदजी हुए जिनके सम्बन्ध मे आगे लिखा जा चुका है।

श्री शान्तिनाथ स्तवन के विवेचन की अनुभूति के प्राकट्य से

ज्ञात होता है कि आनदघनजी बाल्यकाल से धार्मिक वातावरण और आत्मचिन्तन मे जीवन बिताते थे अतः इस समय उनकी अवस्था लगभग १८ वर्ष की हुई होगी अतः उनका जन्म स १६६० के आसपास होना चाहिए और दीक्षा स० १६७९-८० के आसपास हुई होगी। इस हिसाब से श्री आनदघनजी ने पचास वर्ष पर्यन्त सयम मार्ग की साधना अवश्य ही की थी। यद्यपि उनके महाप्रयाण के सबध मे जैन साहित्य तो सर्वथा मौन है परतु परणामी सप्रदाय के सस्थापक प्राणलालजी जो आनदघनजी के समसामयिक थे, के जीवनचरित्र मे उल्लेख है कि— "श्रीप्राणलालजी एक समय से १७३१ से पूर्व मेड़ता गये थे। उनका मिलन और शास्त्रार्थ भी आनदघनजी से हुआ जिसमे उनका कुछ भी बिगाड़ नही हुआ जिनमे (आनदघनजी) पराभव होने से उन्होने कुछ प्रयोग प्राणलालजी पर किये किन्तु उससे उनका कुछ भी बिगाड़ नही हुआ। जब वे दूसरी वार मेड़ता गये तब उनका (आनंदघनजी का) स्वर्गवास हो चुका था।"

अतः आनदघनजी का महाप्रयाण स० १७३१ मे हुआ प्रमाणित है।

श्रीमद् आनदघनजी की उच्च साधना और आत्मानुभव, देखते उनकी गति के सम्बन्ध मे श्री बुद्धिसागरसूरिजी महाराज ने उन्हे स्वर्गवासी और एकावतारी लिखा है। स० १९८० मे प्रकाशित आत्म-दर्शन मे भी अहमदाबाद के यतिवर्य मणिचद्रजी महाराज जो (स० १८९० से ९९) रक्तपित्त महारोग होने पर भी समाधिलीन रहते थे। श्री सीमधर स्वामी ने एक देव के समक्ष उनकी भाव चारित्रिया के रूप मे प्रशसा की। वह देव मणिचद्रजी के पास आया और आत्म-दशा देख कर प्रसन्न हुआ। श्री मणिचद्रजी ने उससे चार प्रश्न पूछे (१) श्रीमद् आनदघनजी (२) श्रीमद् देवचद्रजी और (३) उपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी के कितने भव बाकी है ? तथा राजनगर-अहमदा बाद मे शासनदेव की उपस्थिति है कि नही। उस देव ने श्री सीमधर स्वामी से पूछ कर कहा—आनदघनजी देव हुए है वहाँ से मनुष्य जन्म

लेकर मोक्ष जायेगे। उपाध्यायजी भी देवलोक से मनुष्य होकर मोक्ष जायेगे। पर श्रीमद् देवचद्रजी तो अभी महाविदेह क्षेत्र मे केवली रूप मे विचर रहे है। मणिचद्रजी के विषय मे भी कहा कि वे महाविदेह मे मनुष्य हो कर कवलज्ञान व मोक्ष प्राप्त करेगे। राजनगर मे शासन-देव की हयाती है।

इस किवदन्ती को २-४ श्रावकादि मे भी सुनी लिखा है। किन्तु योगीन्द्र युगप्रधान गुरुदेव श्री सहजानदघनजी महाराज ने अपनी आत्मानुभूति/दिव्य शक्ति से अनेकशः निश्चयपूर्वक लिखा है कि श्रीमद् आनदघनजी, श्रीमद् देवचंदजी और श्रीमद् राजचद्र तीनो महापुरुष महाविदेह मे केवली रूप मे विचरते हैं। अभी-अभी श्री हम्पी तीर्थ मे विराजित परमपूज्या आत्मद्रष्टा, लब्धि-सिद्धि सम्पन्न माताजी को पूछने पर उनके द्वारा भी मैंने तीनो महापुरुषो के महा-विदेह मे केवली होने का समर्थन पाया है।

गुरुदेव श्री सहजानदघनजी के अनेक भवो से आत्म साधना की प्राप्ति होती रही थी। इस भव मे भी आत्म साधना का तीव्र लक्ष्य था। बारह वर्ष पर्यन्त खरतरगच्छ की सुविहित परम्परा मे दीक्षित हो विद्याध्ययन कर फिर गुफा वास करने लगे। आध्यात्मिक ग्रन्थो के परिशीलन का लक्ष्य प्रारभ से ही था। श्रीमद् देवचद्रजी और आनंद-घनजी का तो साहित्य प्रकाशित ही था। श्रीमद् ज्ञानसारजी का साहित्य आपकी ही विशेप प्रेरणा से हमने आशिक रूप मे विस्तृत प्रस्तावना-जीवनी-सहित प्रकाशित किया था। आनदघनजी की चौवीसी और पदो की प्राचीतम प्रतियाँ प्राप्त कर उनके समक्ष प्रस्तुत कीं। स० २०१० पावापुरी मे उन्ही की हमे प्रेरणा से हमने सग्रह करवाया। श्री उमरावचदजो जरगड़ को भी बहुत सी प्रतियाँ व नकले कर के दी। हम्पी मे गुरुदेव को भी प्रेसकापी करके भेट की। उन्होने ९० पदो का वर्गीकरण करके दिया था वह तथा चौवीसी

साहित्य की अनेक मूल एव नकले हमारे संग्रह मे है जिनमें से उन्हें खोज निकालना अभी सभव नही। गुरुदेव ने चौवीसी के जिन पाठों को स्वीकार किया वह भी प्राप्त न होने से मुद्रित प्रतियों का मूल पाठ ही इसमे दिया गया है क्योकि गुरुदेव ने केवल विवेचन ही लिखा था। परमपूज्य माताजी ने मुझे कई वर्ष पूर्व छपाने के लिए आदेश दिया था। मैंने १७ स्तवन तक गुरुदेव का विवेचन और काकाजी अगरचंदजी ने निर्देशानुसार श्रीमद् ज्ञानसारजी के बालावबोधानुसार पूरी चौवीसी का अर्थ सम्पादन कर प्रेस में देने के लिए रखा था और हम्पी की कापी वापस भेज दी पर मेरे पैर में फ्रेक्चर हो जाने से वह प्रेस कापी हमारी कलकत्ता गद्दी मे इतस्ततः हो गई। फिर माताजी की आज्ञानुसार गुरुदेव के विवेचन और अवशिष्ट स्तवनों को मूल रूप में ही प्रकाशन किया जा रहा है। परमपूज्य गुरुदेव ने श्री आनंदघन चौवीसी स्तवनो के भावानुरूप चैत्यवंदन चौवीसी और स्तुति चौवीसी की रचना की थी जो परम उपयोगी होने से अन्त में दी गई है।

आनदघन चौवीसी स्तवनो के पाठान्तर प्रचुर परिमाण में मिलते हैं पर निर्णयात्मक पाठ तैयार न होने से प्रचलित पाठो में दो चार साधारण अन्तर है वह यहाँ देता हूँ।

१. श्री ऋषभदेव स्वामी के स्तवन मे ५ वी गाथा—'कोई कहै लीला रे अलख-अलख तणोरे' के प्रकाशित पाठ के स्थान पर ललक अलख, रखा है जिसमे पुनरुक्ति दोष नही रहता। श्री कापड़ियाजी ने भी यही पाठ स्वीकार किया है।

२. पद्मप्रभ भगवान के स्तवन मे गा-६ मे "तुझ मुझ अंतर-अंतर भाजसे, वाजसे मंगल तूर" मे ० अतर-अतए भाजसे, दिया है। इससे पुनरुक्ति दोष नही रहता तथा अर्थ विचारणा में भी प्रारभ मे प्रभु से पूछा है आपका और हमारा अन्तर कैसे मिटेगा ? स्तवन मे विश्लेषण

कर युंजनकरण से पड़ा अंतर गुणकरण/रत्नत्रय ग्रहण होने से अंत मे अंतर मिट जायगा। लिपिकार के दोष से 'अतर' दूसरी वार आया वह 'अतए' होने से शुद्ध होगा।

३. कुंथुनाथ भगवान के स्तवन मे 'मनडो किमही न वाजे' पाठ मे 'न' शब्द न रहने से निर्णयात्मक निषेध न रह कर प्रभु से प्रार्थना/जिज्ञासा हो जाती है और अत मे आपने मन को वश मे किया है और मुझे भी मनोविजयी बना दो तो सत्य प्रतीति हो जाय। जैसे पद्मप्रभ स्तवन में प्रार्थना/जिज्ञासा है वैसे ही यहा समझना चाहिए।

४. मल्लिनाथ स्वामी के प्रकाशित स्तवन मे प्रारभ ही असगत है। प्रथम पक्ति "सेवक किम अवगणिये हो, मल्लिजिन ए अब शोभा-सारी। यह "सेवक किम अवगणिये हो" तो ढाल की देशी है जो स्तवन के साथ मिल गई है। अन्यथा भगवान सेवक की क्या अव-गणना करते है ? अर्थ करने में खीचतान और असगति आ जाती है। यहाँ पर 'एह अचभो भारी हो मल्लिजिन' पाठ होने से अथ सगति बैठ जाती है कि भक्त लोग आश्चर्य व्यक्त करते है कि सभी लोग जिन दोषो को आदर देते है, आपने उन अष्टादश दूषणो को दूर निवारण कर दिया यही तो आपकी शोभा है।

स्तवन वावीसी के अतिरिक्त कुछ स्तवन, अनेक पद तथा सज्झा-यादि मिलते है जो जरगडजी की पुस्तक मे प्रकाशित है। पदो में कबीर, द्यानतराय, सुखानद, आनदवर्द्धन आदि के पद इसमे मिल गए है उन पर विचार करना हमारा इस पुस्तक मे अनावश्यक है तथा अर्थ के सम्वन्ध मे भी हम पड़ना नही चाहते। श्रीमद् के ९० पदो को विपयानुक्रम से वर्गीकरण कर गुरुदेव ने काकाजी को भेजा था जो महत्व-पूर्ण और इस ग्रन्थ मे प्रकाशन योग्य होने पर भी वीकानेर के हमारे सग्रह-समुद्र से खोज कर मंगाना अशक्य होने से नही दिया जा सका।

उपसंहार

बावा आनदघन अध्यात्म की उच्चतम भूमिका पर पहुँचे हुए योगीन्द्र युगपुरुष थे। उन्होने आत्म साधना मे अद्भुत कदम बढाये सम्यग् दर्शन और आत्मानुभूति मार्ग से अत्यन्त दूर गच्छ भेद,[1] स्व-मान्यता के आग्रहवश वीतराग मार्ग से हट कर गमन करते सघ और सघ नेताओ को गमन करते देखा तो उनकी आत्मिक पुकार ने क्रान्ति-कारी कठिन साधना मार्ग पर एकाकी चल पडने को बाध्य किया। उनकी संप्राप्त अल्प रचनाएँ आत्मार्थी महापुरुषो के लिए प्रकाश स्तभ बनी और जिससे प्रभावित होकर चिन्तन की गहराइयो मे उतर कर उपाध्याय यशोविजयजी आदि की विद्वत्ता पूर्ण रचनाओ ने भी अध्यात्म मार्ग का नया मोड़ लिया। सौ वर्ष बाद उनके साहित्य के चार दशक पर्यन्त परिशीलन ने श्रीमद् ज्ञानसारजो को छोटे आनदघन नाम से अभिहित किया। उन्होने चालीस वर्ष तक अध्ययन कर जो अनुगा-मित्व पूर्ण रचनाए की किन्तु विधि का विधान है कि किसी ने उन पर परिशीलन कर शोध प्रबन्ध नही लिखा। फिर भी बाबा आनदघन की अध्यात्म परम्परा मे सुखानदजी, चिदानदजी ज्ञानानदजी, द्वितीय चिदानंदजी, मोतीचदजो और श्री सहजानदघनजी महाराज हुए जिन्होने गच्छ समुदाय की वाड़ाबदी[2] से पृथक् होकर उच्चकोटि की साधना की और मुमुक्षुओ के लिए मार्गदर्शक बने।

श्री ज्ञानविमलसूरिजी का आनदघन चौवीसी विवेचन सर्वप्राचीन है। पन्यास श्री गभीरविजयजी महाराज, योगनिष्ट आचार्य श्री

---

१. गच्छना भेद बहु नयण निहालता, तत्त्वनी वात करता न लाजे।
उदर भरणादि निजकाज करता थका, मोह नडिया कलिकाल राजे॥

२. "हिवै प० ज्ञानसार प्रथम भट्टारक खरतरगच्छ सप्रदायी वृद्ध वयोन्मुखिये, सर्वगच्छ परपरा सबन्धी हठवाद स्वेच्छायें मूकी एकाकी विहारियै कृष्णगढै स० १८६६ वावीसी नु अर्थ तिमज वे स्तवनकरी"

बुद्धिसागरसूरिजी, श्री मोतीचद गिरधरलाल कापड़िया आदि सभी महानुभावो ने श्रीमद् के साहित्य का अध्ययन कर हजारो पृष्ठो मे जो सत् साहित्य का भण्डार भरा है वे सभी हमारे लिए सम्माननीय और पूज्य है।

प्रस्तुत चौवीसी गत १७ स्तवनो का विवेचन आत्मानुभवी गुरुदेव श्री सहजानदघनजी महाराज ने उस स्तर पर उठकर इन स्तवनो का रहस्य उद्‌घाटित किया है जहाँ श्रीमद् आनदघनजी के भावो की झलक स्पष्ट दिखाई देती थी और उन्होने अपनी दिव्य दृष्टि से देखकर जो प्रश्नोत्तर हुए उसे भी लिपिबद्ध किया है, जो अभूतपूर्व और अपूर्व है। जिन्हे आत्मदर्शन व आत्म साक्षात्कार हुआ है और जिनका अखड आत्मलक्ष रहता था ऐसे महापुरुष श्री सहजानदघनजी का जन्म इस काल मे अच्छेरात्मक था उनकी बाह्य चर्या और वेशभूषा बिहार आदि पूर्वकर्मानुसार होता था पर प्रवृत्तिकाल मे अखण्ड आत्मलक्ष और निवृत्ति काल मे वे अनुभूति की आनद-धारा मे निमग्न रहते थे।

श्रीवल्लभ उपाध्याय ने विजयदेवसूरि महात्म्य में सत्य ही लिखा है कि गगा किसी के बाप की नही होती। महापुरुष किसी सम्प्रदाय/गच्छ विशेष के न होकर सभी के होते है। श्रीमद् आनदघनजी महाराज सभी आत्मार्थी जनो के लिए कल्पवृक्ष कामधेनु तुल्य है। उन महा-पुरुषको जब स्वय ही अपना परिचय देना अभीष्ट नही था तो उन्हे कल्पना सृष्टि द्वारा सम्प्रदायवाद मे खीचने की चेष्टा करना सर्वथा अनुचित है। जबकि श्रीमद् बुद्धिसागरसूरिजी आदि महापुरुषो व उनके बाद सभी ने उनके तपागच्छ मे दीक्षित होना लिखकर अनुधावन किया है। मैंने अनेक दृष्टिकोण से उन्हे खरतरगच्छ मे दीक्षित होने का, पिछले पृष्ठो मे ऐतिहासिक दृष्टि से प्रतिपादन किया है। तत्का-लीन वातावरण या परिवेश प्रस्तुत करने मे कही भी अपने अधिकार या मर्यादा का उल्लघन हो गया हो तो उसके लिए पुनः पुनः क्षमा-प्रार्थी हूँ।

वस्तुतः श्री आनदघनजी महाराज आज महाविदेह मे केवली रूप मे विचरण करते है और जिन्होने भी उनके साहित्य का परिशीलन करके लाभ उठाया है या उठाते है वे सभी महानुभाव धन्यवादार्ह है और सच्चे अर्थो मे श्री आनंदघनजी महाराज उन्ही के है। स्तुत्य है श्री विजयकलापूर्णसूरिजी महाराज जो श्रीमद् की जन्म व महाप्रयाण भूमि मेड़तानगर मे उनका स्मारक-मन्दिर निर्माण करवाकर अनन्त कर्म निर्जरा व मुमुक्षु जन के परमोपकार का महत् कार्य कर रहे है।

गुरुदेव श्री सहजानदघनजी के स्वयं हस्ताक्षरो से लिखित विवेचन की जेरोक्स कापी गुरुदेव के अनन्य भक्त मुमुक्षुवर्य श्री विजय-कुमारसिंह बडेर हम्पी से करा के लाये, जिससे यह महत्वपूर्ण प्रकाशन सभव हो सका। अतः अनेकशः आभारी हूँ, आपने पूरी प्रस्तावना देखकर उचित परामर्श भी दिया है। मेरे ज्येष्ठ पुत्र श्री पारसकुमार नाहटा ने सम्पूर्ण प्रेसकापी कर दी अतः वह आशीर्वाद भाजन है। परमपूज्या आत्मद्रष्टा माताजी का आशीर्वाद हमारा चिर सम्बल है जिनसे प्रेरणा प्राप्त कर यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। आश्रम मत्री व अहर्निश सेवारत मैनेजिंग ट्रस्टी गुरुदेव के अनन्य भक्त एस० पी० घेवरचद जैन एव प्रकाशन मे सहयोगी महोपाध्याय श्री विनयसागरजी, निदेशक प्राकृत भारती, जयपुर तथा सचिव श्री देवेन्द्रराज मेहता का सौजन्य किसी भी प्रकार भुलाया नही जा सकता।

जिनके द्वारा यह विवेचन लिखा गया है उन महाविदेही प्रभु श्री सहजानदघनजी महाराज का विस्तृत परिचय जानने को अनेक महानुभाव उत्सुक होगे। वे आगामी प्रकाशन "सद्गुरु श्री सहजानद-घन चरिय" काव्य हिन्दी अनुवाद सह प्रकाश्यमान ग्रन्थ द्वारा जिज्ञासा पूर्ति की प्रतीक्षा करे।

प्रस्तुत प्रकाशन, व प्रस्तावना मे रही हुई अशुद्धियो व स्मृति दोषजन्य पुनरुक्तियो या स्खलनाओ के लिए क्षमा प्रार्थी हूँ।

सन्तचरण रज।

भँवरलाल नाहटा

विवेचनकार

योगीन्द्र युगप्रधान श्री सहजानन्दघनजी महाराज

जन्म १९७०	दीक्षा १९९१	युगप्रधान पद २०१८	महाप्रयाण २०२७
भा० सु० १०	वै० सु० ६	ज्ये० सु० १५	का० सु० २
डुमरा कच्छ	लायना	बोरडी	हम्पी

परम पूज्या आत्मद्रष्टा माताजी श्री धनदेवीजी

आनन्दघन चौबीसी का संक्षिप्त भावार्थ

श्री ऋषभ जिन स्तवन

(राग मारू: करम परीक्षा करण कुंवर चाल्यो, ए देशी)

ऋषभ जिणेसर प्रीतम माहरो, और न चाहूँ कंत।
रींझ्यो साहब संग न परिहरे, भांगे सादि अनन्त ।। ऋ०.।।१।।

प्रीत सगाई जग मां सहु करै, प्रीत सगाई न कोय।
प्रीत सगाई निरुपाधिक कही रे, सोपाधिक धन खोय ।। ऋ० ।।२।।

को कन्त कारण काष्ठ भक्षण करै, मिलस्युं कंत नै धाय।
ए मेलो नवि कदिये संभवे, मेलो ठाम न ठाय ।। ऋ० ।।३।।

कोइ पति रंजन अति घणुं तप करै, पति रंजन तन ताप।
ए पति रंजन में नवि चित धरयूं, रंजन धातु मिलाप ।। ऋ० ।।४।।

कोइ कहै लीला ललक अलख तणी, लख पूरें मन आस।
दोष रहित नै लीला नवि घटै, लीला दोष विलास ।। ऋ० ।।५।।

चित्त प्रसत्ति पूजन फल कह्यूं, पूजि अखंडित एह।
कपट रहित थई आतम अरपणा, 'आनन्दघन' पद रेंह ।। ऋ० ।।६।।

१. ऋषभ-स्तवनम्

परा‍भक्ति :

१. सत आनन्दघनजी की पराभक्ति युक्त चेतना अपने हृदय प्रदेश मे भगवान ऋषभदेव के साकार रूप में प्रत्यक्ष सुयोग को पाकर उल्लास पूर्वक अपनी श्रद्धा सखी को कह रही है कि :—

हे सखि ! समस्त आवरण और अन्तरायो से परिमुक्त मोह और क्षोभ को जीतने वाले जिनेश्वर भगवान अव्याबाध समाधि-स्वरूप शुद्ध चैतन्य मूर्ति श्री ऋषभदेव मेरे प्रियतम हो चुके, मैने पति रूप मे उनका वरण कर लिया अतः अब मैं अन्य कोई भी मोही और क्षुब्ध को प्रियतम रूप मे नही चाहती, क्योकि मुझे खुशी से अपनालेने पर मेरे साहब मेरा कभी भी परित्याग नही करेगे। अतएव मर्मज्ञो ने हमारे इस लोकोत्तर सम्बन्ध को 'सादि अनन्त भग' रूप मे स्वीकार किया है, क्योकि चेतन और चेतना के शुद्ध सम्बन्ध की आदि तो है पर अन्त नही है।

२ विश्व मे समस्त प्राणी परस्पर प्रेम सम्बन्ध करते चले आ रहे है, पर वास्तव मे वह उपाधिमूलक होने से लौकिक प्रेम सम्बन्ध है, लोकोत्तर नही, क्योकि लोकोत्तर प्रेम सम्बन्ध तो निरुपाधिक बताया गया है, जो कि मोह क्षोभ आदि उपाधिरूप पर धर्म घन के सर्वथा त्याग पूर्वक ही होता है।

३. हे सखि ! अलौकिक प्रेम-पथ के अनजानो की विश्व मे कैसी करुण फजीहत हो रही है, अब जरा-सा यह भी सुन लो :—

पियु-प्रेम वश कितनीक स्त्रियाँ अपने बिछुडे हुए प्रियतम को शीघ्रतम भेटने के लिए उसकी लाश के पीछे दौड़ती हुई अपने शरीर को सुलगती लकड़ियो का भक्ष्य बनाकर पति की लाश के साथ ही

साथ जीते-जी जलकर सतियाँ बनती है, इतने पर भी उन्हे पियु-मिलन का तो कदापि सम्भव ही नहीं है क्योंकि सभी की करणी एक सी नही होती। पति का जीव अपनी करणी अनुसार न जाने कहाँ चल बसा जबकि खुद को कहाँ जाना पड़ेगा जिसका उन्हे तो कोई निश्चित पता ही नही।

इसी तरह मेरे पियु को मिलने के लिए—कितनेक अज्ञ तपस्वी पञ्चाग्नि तपते है तो कितनेक धूनी रमाते है, कितनेक धर्म-मूढ घृत धान्य आदि के होम-हवन द्वारा एव कितनेक धर्म-राक्षस पशु पक्षी और मनुष्य तक की बली द्वारा जलती लकड़ियो का तर्पण करते है, तथा कोई अग्नि को ही पियु मान कर उसे स्थायी रखने के हेतु चन्दन के वन के वन उजाड़ रहे है। इस प्रकार अनेक धर्म मत चल रहे है। पर अफसोस ! उन बेचारो को मेरे पियु के वास्तविक स्वरूप, स्थान और इनकी आराधन-पद्धति की जरा सी भी गतागम नही है, तब भला ! उन्हे पियु-मिलन कैसे हो सकता ?

४. अपने रूठे पति को रिझाने के लिए कितनीक स्त्रिया बहुत सी कठिन तपस्याये करती है। यदा-कदाचित् तप के प्रभाव से किंवा प्रकृति मिलाप से पियु खुश भी हो गया, तो वह आलिगन आदि से काम-ज्वर बढाकर शरीर को सतप्त कर देता है, फलतः इस पियु रजन से रजः—वीर्य रूप धातु मिलाप होकर अशाता-मूलक संसार की ही वृद्धि होती है।

तथैव मेरे प्रियतम को रिझाने के लिए कितने ही अज्ञ तपस्वी बहुत से दुर्धर तपश्चरण करते है परन्तु अन्तर्लक्ष शून्य केवल बाह्य तप आदि द्वारा पियु रिझाने से तो पियु नही रीझता अपितु क्रिया काल मे तन ताप रूप अशाता और फल काल मे प्रायः अन्तर्ताप रूप शाता वेदनीय का वह कारण बनता है अतः पियु रिझाने की इन दोनो पद्धतियो को, अपने हृदय मे स्थान न देकर, मैंने तो केवल पियु प्रकृति

के अनुकूल अपनी प्रकृति बना उन्हे रिझाया, क्योकि एक सी प्रकृतिवालो का ही परस्पर मिलाप हो सकता है। परमात्मा शुद्ध चिद्-घातुमय हैं अतः साधक को भी अपनी चित्त-शुद्धि अनिवार्य है।

५. कितनेक शृ गार-रस-रसिक एक मात्र भगवत् लीला को ही मेरे प्रियतम रिझाने का प्रबल साधन वताते है। उनका ऐसा विश्वास है कि भगवान तो किसी भी लक्षण से लक्षित नही हो सकते अत. वे 'अलख' है, पर उन्होने ललक अर्थात् प्रवल अभिलापा से जो इस दुनिया की रचना की और फिर इसमे स्वतः अवतार धारण करके उन्होने जो-जो लीलाये की, केवल उन्ही लीलाओ को लक्ष पूर्वक महिमा गाने सुनने मात्र से ही वे प्रसन्न होकर भक्त-मन की सभी आशाअे पूर्ण करते है, अतः त्याग, वैराग्य और प्रभु के वास्तविक स्वरूप आदि समझने की कोई आवश्यकता ही नही है। पर विवेक चक्षु से देखने पर यह मन्तव्य भी केवल भ्रान्ति रूप सिद्ध होता है, क्योकि भगवान तो राग द्वेष और अज्ञान आदि दोषो से रहित है जबकि लीला मे तो प्रगट दोषो का ही विलास है, यथा—जहाँ लीला है, वहाँ कुतूहल-वृत्ति है जो अपूर्णज्ञान-अज्ञान और आकुलता सूचक है। और लीला तो चाह पूर्वक ही हो सकती है। जहाँ चाह है वहाँ राग है। जहाँ राग है वहाँ द्वेष तो अविनाभावी रूप से है ही। एव जहाँ राग द्वेष उभय है वहाँ काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि समस्त दोष समूह है। अतः लीला और जगत कर्तृत्व निर्दोषी भगवान मे किस न्याय से घटित हो सकते है अर्थात् किसी भी प्रकार सिद्ध नही हो सकते। फलतः केवल कल्पना रम्य इस भगवत् लीला से केवल काल्पनिक फिल्म मे ही अटक कर वे भक्त भी मेरे प्रियतम को नही रिझा सकते।

इस तरह मेरे प्रियतम को रिझाने के लिए जितनी भी लौकिक साधन पद्धतियाँ है वे सभी व्यर्थ है। लोकोत्तर साधन पद्धतियाँ भी अनेक है, जिनमें सुगम और सर्व श्रेष्ठ साधन भक्ति-पूजन है।

६. भक्ति किंवा पूजन के भी अनेक प्रकार हैं, पर इन सब में निष्कपट 'आत्म समर्पण रूप पराभक्ति ही सर्वोत्कृष्ट है। शुद्ध चैतन्य मूर्तिरूप प्रत्यक्ष परमात्मा अथवा उनके अभाव मे जिनको शुद्ध चेतन तत्व का साक्षात्कार हो चुका हो उन प्रत्यक्ष सत्पुरुष मे परमात्म भाव स्थापन करके उनके चरणो मे साधक की चेतना का समर्पित हो जाना ही आत्म समर्पण है। अर्पित चेतना को चुरा कर उसे बहिर्मुख प्रवाह रूप मे अन्यत्र कही भी भटकाना कपट है। अतः विश्व के समस्त पदार्थो से चित्त वृत्ति व्यावृत करके उसे अविच्छिन्न धारा प्रवाह रूप मे साध्याकार तन्मय बनाना-यही पराभक्ति रूप अखण्डित पूजन है और इसी का फल चित्त-प्रसत्ती अर्थात् चित्त शुद्धि है। जो आत्मा और परमात्मा किंवा चेतना और चेतन की अभिन्नता तद्रूपता रूप आत्म साक्षात्कार की जननी है। अतः पराभक्ति ही मेरे प्रियतम के आनन्दमय ठोस-पद—मोक्ष पद को प्राप्त करानेवाली रेखा—सरल मार्ग है।

पराभक्ति द्वारा आत्म साक्षात्कार करके बीज कैवल्य दशा मे स्थित सत लाभानन्दजी ने क्रमशः सत्पुरुषार्थ द्वारा आत्म प्रतीति-धारा और आत्म लक्ष-धारा की अखण्डता की, और उन्होने उस आत्मानन्द से छकी-सी अप्रमत्त दशा मे अपना नाम भी आनन्दघन रखा।

श्री अजित जिन स्तवन

(राग आसावरी-म्हारो मन मोह्यो श्री विमलाचले रे, ए देशी)

पंथडो निहालूं बीजा जिन तणुं, अजित अजित गुण धाम ।
जे तें जीत्या तिण हूँ जीतियो, पुरुष किस्यूं मुझ नाम ।। पं० ।।१।।

चरम नयन करि मारग जोवतो, भूल्यो सयल संसार ।
जिण नयने करि मारग जोइये, नयण ते दिव्य विचार ।। पं० ।।२।।

पुरुष परम्पर अनुभव जोवतां, अन्धो अन्ध पलाय ।
वस्तु विचारै जो आगमै करी, चरण धरण नहीं ठाय ।। पं० ।।३।।

तर्क विचारै वाद परम्परा, पार न पहुंचै कोय ।
अभिमत वस्तु वस्तुगते कहै, ते विरला जग जोय ।। पं० ।।४।।

वस्तु विचारै दिव्य नयण तणो, विरह पड्यो निरधार ।
तरतम जोगे तरतम वासना, वासित बोध आधार ।। पं० ।।५।।

काल लब्धि लहि पंथ निहालस्यूं, ए आसा अवलम्ब ।
ए जन जीवे जिनजी जाणज्यो, 'आनन्दघन' मत अम्ब ।। पं० ।।६।।

२. अजित-स्तवनम्

अजित पथ-यथाख्यात चारित्र :

जब अप्रमत्त सन्त आनन्दघन सम्पूर्ण कैवल्यदशा के हेतु रूप अनुभूति धारा की अखण्ड श्रेणी मे प्रवेश करानेवाली सातिशय अप्रमत्त दशा की ओर कदम बढाने के लिए अपनी योग्यता का परीक्षण करते करते स्तब्ध हो जाते है, तब उनके स्तब्ध अन्त करण मे स्फुरित श्रद्धा और विवेक का परस्पर सवाद से सूचन है :—

श्रद्धा—बन्धु विवेक ! आज तुम यूथभ्रष्ट मृग की तरह दिग्मूढ क्यों दिख रहे हो ?

विवेक :—श्रद्धे ! मुझे सम्पूर्ण कैवल्य-पद पर पहुचने का मार्ग नही सूझ रहा है ।

श्रद्धा—ओह ! जिस मार्ग से द्वितीय तीर्थङ्कर भगवान अजितनाथ कैवल्य-पद पर पहुँचे, उस मार्ग की ओर दृष्टि लगाओ । (अगुलि निर्देश पूर्वक) यह रहा वह अजित-मार्ग ।

विवेक—(उस ओर दृष्टि देकर निरीक्षण करके कुछ क्षण के पश्चात्) ऊँह ! इस यथाख्यात-चारित्र प्रधान सन्मार्ग को देखकर मै तो हावला-बावला बन गया । क्योकि इस पथ के पथिक के लिए अपने अनन्त आत्म गुणो को प्रतिपल विकसित करनेवाली (धाम) बागडोर हथिया कर मार्ग बीच अड़े हुए समस्त शत्रुदल को सर्वथा परास्त करते जाना अनिवार्य है । पर मुझ मे वैसी क्षमता नही है । अतः मेरे लिए यह अनन्त गुणो के धाम-रूप अजित-मार्ग अजित ही है । अजी ! मैं तो क्या, बडे बडे पराक्रमी पुरुष भी जिस मार्ग मे खता खा गये, उस मार्ग मे साहजिक चलते हुए भगवान अजितनाथ ने लीलामात्र मे ही सभी प्रकार के आवरण, अन्तराय एव राग, द्वेष, मोह आदि समस्त शत्रुओ को सर्वथा जीतकर सम्पूर्ण कैवल्य पद पा लिया । अतः भगवान ने तो अपना अजित नाम चरितार्थ कर दिखाया,

किन्तु भगवान से जो जीते गये, उन्हीं शत्रुओ से मैं परास्त हुआ—विवश हूॅ, अतः मेरा नाम उन महान पुरुपों की कोटि में किस प्रकार गिना जा सकता है? क्योकि महान् पुरुपो की कोटि में वे ही गिने जा सकते हैं जो कि सत्पुरुपार्थ मे कभी जरा-सी भी पीछे हट न करे।

२-३. श्रद्धा—यो हताश होकर पीछे हटना तुम्हारे लिए शोभास्पद नही है। अतः जाओ! इस अनुभव पथ के पथिक यथार्थ ज्ञाता किसी समर्थ अनुभवी सन्त को खोजो और उनकी अनन्य शरणता पूर्वक शत्रु दल को जीतने की तालीम लेते हुये उनके पीछे-पीछे चलो, क्योकि सन्त का शरण ही निर्बल का बल दुःखी की दवा और सफलता की कुंजी है।

विवेक—यद्यपि तेरा कहना यथार्थ है, पर इस दुपम काल मे वैसे समर्थ सत्पुरुष खोजने पर भी नही मिल रहे हैं। मैंने ज्ञानियो की परम्परा मे विद्यमान मार्गदर्शको को अच्छी तरह से परिचय करके देखा, पर हाय! मुझे ऐसा कटु अनुभव हुआ कि मानो केवल अन्धों से ही अन्धे ढकेले जा रहे हो। क्योकि आत्म-दर्शन, आत्म ज्ञान और आत्म-समाधि प्रधान भगवान के इस अतीन्द्रिय मार्ग से लाखों योजन दूर किसी लौकिक मार्ग को ही अलौकिक समझ कर सभी-के-सभी मार्गदर्शक केवल चर्म चक्षु से ईर्या-पथ के शोधन पूर्वक असन्मार्ग के अग्रसर हो रहे हैं। जिन नेत्रो से इस अरूपी मार्ग का साक्षात्कार होता है, उन्हे दिव्य नेत्र समझना चाहिए, वे दिव्य-नेत्र क्वचित् किसी-किसी की बातो में तो हैं, पर किसी के भी घट में देखने में नही आये। जहाँ मार्गदर्शकों की भी ऐसी दयनीय-दशा है, वहाँ उनका अनुयायी सारा ससार भूला हुआ भटकता ही रहे, तो इसमें आश्चर्य भी क्या?

श्रद्धा—बन्धो! तुझे यदि देखते पुरुषो का अभाव प्रतीत होता है, तो भगवान के अनुभव-वाणी प्रधान आगम-साहित्य को मथ कर प्रबल तत्त्व विचार का सहारा लो और आगे बढो।

विवेक—प्रबल तत्त्व विचार के सहारे वर्तमान आगमो को अनु-

भव की कसौटी से कस कर देखा तो इस अजित मार्ग मे चलना तो दूर रहा प्रत्युत निश्चित-रूप मे उस पर कदम का रख पाना ही असम्भव प्राय है। क्योकि आगमो में बताया गया है कि इस काल मे इसी क्षेत्र मे यथाख्यात चारित्र, केवलज्ञान और मोक्ष की उपलब्धि किसी को भी नही हो सकती।

४ श्रद्धा—यद्यपि आगमो मे कही पर कोई विशेष उद्देश्य वश वैसा उल्लेख है—तो रहो, पर तुम उसे तर्क की कसौटी से कस कर देखो, क्योकि तीर्थङ्करों की शिक्षा उनके निर्वाण से बहुत काल के पश्चात् ग्रन्थारूढ हुई है, अतः परमार्थ दृष्टि से परीक्षणीय है।

विवेक—परीक्षा के हेतु तर्क के सहारे मै यथाशक्ति दिमागी-कुश्ती भी लड़ लूं, पर उससे समाधान पाना तो दूर रहा, उल्टे वाद-विवाद जन्य परिखा-परम्परा मे चढने-उतरने रूप मरते दम तक व्यर्थ ही लय लग जाती है: जिससे पिण्ड छुडाकर इस मार्ग के परले पार पहुँचने मे मै तो क्या, दूसरे भी कोई समर्थ नही है। क्योकि ज्ञानियो के सम्मत तत्त्व-रहस्य के यथार्थ अनुभवियो की बात तो दूर रही, उसे यथास्थित समझकर प्रतिपादन-मात्र करने वाला भी विश्व मे कोई विरला ही देखने मे आता है। तो फिर मैं किससे तत्त्व-चर्चा करूँ ?

५. श्रद्धा—वास्तविक तत्त्व विचारक चाहे विरले हो, पर है तो सही, अतः उन्हे अपने अनुकूल बनाकर इस अजित-पथ मे चलने योग्य अपनी ज्ञान दशा का विकास करो।

विवेक—यद्यपि सद्विचार की योग्यता रखने वाले कोई इने-गिने. व्यक्ति हैं, पर तारतम्य से उनके मन, वचन और काय योग जितने बलवान है, उतना ही उन लोगो मे मत, पन्थ, भान, पूजा, सत्कार, अर्थ, वैभव आदि का बलवान वासना-तारतम्य है और तदनुरूप उतना ही बलवान उनका वासना से वासित कसैला बोध और आचरण है, अतः सद्विचार दशा मे प्रवेश करने की भी उन्हे गरज नही है।

निरन्तर सद्विचार के बिना स्व-विचार दशा मे प्रवेश नही होता और स्व-विचार दशा के बिना ज्ञान-नेत्र नही खुलते। ज्ञान-नेत्र के बिना ज्ञान-दशा मे स्थिति नही होती एव उत्कृष्ट ज्ञान-स्थिति के बिना इस अजित मार्ग मे चला नही जाता। अहो! इस विकराल काल मे निश्चित रूप से जहाँ ज्ञान-नेत्र का ही विच्छेद है वहाँ मै अपनी ज्ञान दशा की अखण्डता के लिए किसको अनुकूल बनाऊँ और किस तरह इस अजित मार्ग मे आगे बढ़ूं?

श्रद्धा—ओहो! इस काल की ऐसी विषम परिस्थिति है? तभी तो इसे ज्ञानियो ने जो 'दुषम' सज्ञा दी वह यथार्थ है। अब तो भैय्या! इस मार्ग को पार करने के लिए उचित काल की प्रतीक्षा करना तुम्हारे लिए अनिवार्य ही है। तब तक तुम धैर्य रखो, उतावला मत बनो और प्राप्त ज्ञानदशा मे अप्रमत्त बने रहो। मै तुम्हारे सत्पुरुषार्थ की सराहना करती हुई तुम्हे अभिनन्दन देती हूँ और तुम्हारी मगल कामना पूर्वक भगवान अजितनाथ से प्रार्थना करती हूँ कि (भगवान के प्रति):—

६ हे जिनेश्वर! आप इस मेरे सत्पुरुषार्थी बन्धु को अपने निज-जन सत्पुरुषो की ही कोटि मे गिनियेगा, क्योकि इसने आपके समस्त मीठे आम से भी अनन्तगुण विशिष्ट रसीले अतीन्द्रिय आनन्द को प्रपुष्ट करने वाले इस यथाख्यात-चारित्र मार्ग मे चलने के लिए अगुप्त वीर्य से अथक प्रयत्न करने मे कोई कसर नही रखी, पर मार्ग के पारगत होने मे केवल यह दुषमकाल ही इसे बाधक बन रहा है, अतः उचित काल की प्रतीक्षा करता हुआ यह मेरा बन्धु काल-लब्धि का योग पाकर आगामी जन्म मे उचित क्षेत्र मे समर्थ ज्ञानियो के आश्रय से आपके इस मार्ग को पार करके सम्पूर्णतया कैवल्य-पद पर अवश्य आरूढ होगा, क्योकि वर्तमान मे इसी आशा के सहारे यह आपका भक्तजन कालक्षेप करता हुआ जी रहा है ऐसा मेरा अनुभव है।
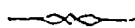
श्री सम्भव जिन स्तवन

(राग रामगिरी-रातड़ी रमीने किहां थी आविया, ए देशी)

संभव देव ते धुर सेवो सबे रे, लहि प्रभु-सेवन भेद।
सेवन कारण पहिली भूमिका रे, अभय, अद्वेष, अखेद ॥ सं० ॥१॥

भय चंचलता जे परणामनी रे, द्वेष अरोचक भाव।
खेद प्रवृत्ति करतां थाकिये, दोष अबोध लखाव ॥ सं० ॥२॥

चरमावर्तन चरमकरण तथा, भव परिणति परिपाक।
दोष टलै वलि दृष्टि खुलै भली, प्राप्ती प्रवचन वाक ॥ सं० ॥३॥

परिचय पातक घातक साधुस्यूं, अकुशल अपचय चेत।
ग्रंथ अध्यातम श्रवण मनन करि, परिसीलन नय हेत ॥ सं० ॥४॥

कारण जोगे कारण नीपजै, एमां कोइ न वाद।
पिण कारण विण कारज साधियै, ते निज मति उन्माद ॥ सं० ॥५॥

मुग्ध सुगम करि सेवन आदरै, सेवन अगम अनूप।
दीज्यो कदाचित सेवक याचना, 'आनन्दघन' रस रूप ॥ स० ॥६॥

३. श्री संभव-स्तवनम्

अन्तर्दृष्टि, साधना रहस्य :

सन्त आनन्दघन अपने स्वरूप विलास-भवन के सप्तम मंजिल पर विराजमान है। भवन मे सर्वत्र मन्द किन्तु उज्ज्वल चैतन्य रोशनी चमक रही है। सामने श्रद्धा विवेक आदि सेवक-वर्ग खड़ा है। भवन का वातावरण शीतल, सुगन्धित एव शान्त है। कुछ क्षणों के पश्चात् उस नीरवता को भग करते हुये श्रद्धा ने विवेक को कहा कि बन्धो! अब तो तुम लोकोपकार करने के लिए कालोचित सर्वथा समर्थ हो चुके हो, अतः जिस साधन-क्रम से तुम्हे आत्मदृष्टि, आत्मज्ञान और आत्मसमाधि की प्राप्ति हुई है वह साधन पद्धति दूसरे उचित पात्रों को बताकर उन लोगो की अन्तदृष्टि का भी उन्मीलन करो, क्योकि ज्ञानियो का यही सनातन व्यवहार है।

१. विवेक—श्रद्धे! यद्यपि तुम्हारा ख्याल यथार्थ है पर इस कार्य का होना तभी शक्य है जबकि सत्सग और सत्पात्रता का सुयोग हो। सत्पात्रता की प्रगटता के लिए साधक को पराभक्ति की उपलब्धि अनिवार्य है। पराभक्ति मे प्रवेश कर पाना तभी सभव है जबकि वह देवाधिदेव श्री सभवनाथ की चैतन्य मुद्रा को सुलटाये हुये अपने हृदय-कमल की कर्णिका के ऊपर प्रतिष्ठित करके उसमे अपनी चित्त-वृत्ति प्रवाह की स्थिरता पूर्वक एक निष्ठा से उसकी आराधना करे। अतः सर्वप्रथम अनुभवी सद्गुरु से इस आराधना के रहस्य को समझ लेना साधक के लिए नितांत आवश्यक है, और आराधना की प्रथम भूमिका मे आराधक के पास उपादान कारण के रूप में अभय, अद्वेष और अखेद इन तीन गुण-रत्नो का होना भी अनिवार्य है।

२ चञ्चल परिणाम वश चित्त का प्रभु की चैतन्य मुद्रा मे न जमना ही भय है। शरीर, संसार और भोग वश उस प्रभु मुद्रा के प्रति दिलचस्पी का न रहना ही द्वेष है एव दिलचस्पी के अभाव-वश

नियमित आराधना प्रवृत्ति से थक कर अनियमित बन जाना ही खेद है। ये तीन महान दोष ही सम्यक्-नेत्र खोलने में बाधक है।

३. ये तीनो ही दोष तो अन्तिम अर्ध पुद्गल-परावर्तन-काल के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी-रूप चरण-चक्रमण मे से अन्तिम चरण-स्थिति मे करण-लब्धि मे से होने वाले अन्तिम अनिवृत्ति-करण म जन्य परम्परा जनक राग, द्वेष और अज्ञान परिणति के परिपक्व होकर परिक्षीण होने के अवसर मे सद्गुरु की प्रकृष्ट वचन प्रधान अनुभव-वाणी की प्राप्ति होने पर ही टलते हैं, और सम्यग्-दृष्टि खुलती है।

४. अतः साधकीय-चित्त की सदोपता मिटाने के लिए आत्म-विस्मरण, आत्म-अप्रतीति और आत्म-दुर्लक्ष आदि पापो को समूल नष्ट करने वाले दिव्य-द्रष्टा साधु-पुरुपो के परिचय मे रहकर उनके श्रीमुख से आध्यात्मिक ग्रन्थो के तत्व-रहस्य का श्रवण द्वारा हृदय मे अवधारण, उस पर अनेक दृष्टि-बिन्दु युक्त सुयुक्तियो द्वारा परिचिन्तन से हेय, ज्ञेय और उपादेय का विवेक, एव उपादेय तत्त्व के सर्वथा अनुरूप अपना स्वभाव-परिणमन-रूप-परिशीलन—इन परमार्थ दृष्टि को व्यवहारू बनाने वाले कारणो का सेवन सतत करते रहना साधक के लिए अनिवार्य है।

५ क्योकि उपादान और निमित्त को कारणता प्रदान करने वाले उपरोक्त सुयोग के बिना कदापि कार्य-सिद्धि नही हो सकती, अतः कारणता के सद्भाव मे यदि कार्य सिद्धि हो जाती हो, तब तो इसमे किसी भी प्रकार के विवाद को स्थान ही नही है, परन्तु कारणता को प्रगट किये विना ही कार्य साधना मे लगे रहना वह तो केवल अपने मत-पन्थ के अभिनिवेश से उत्पन्न उन्माद मात्र ही है, और कुछ नही।

६. हे श्रद्धे ! प्रवर्तमान सम्प्रदायो मे प्रायः सर्वत्र इस उन्माद का ही बोलबाला है। इन उन्मादी मुग्ध लोगो ने आराधना का बाजार

बहुत सस्ता कर रखा है, अतः अत्यन्त सुगमता से केवल बाहरी धूम-धाम पूर्वक ही आराधना का आदान-प्रदान चल रहा है। पर ग्राहक और व्यापारी दोनो को जरा-सा भी ख्याल नही है कि अन्तर्दृष्टि की अनन्य कारण-रूप भगवान सभवनाथ की यह आराधना कितनी अगम और अनुपम होनी चाहिए। वैसी हालत मे यह सेवक किस को क्या कहे और कैसे समझावे ? यह सेवक तो उक्त दयनीय दशा को देख द्रवित होकर उनके लिए भगवान से केवल इतनी ही याचना कर सकता है कि हे निष्कारण करुणाशील ! चैतन्य-रस से परिपुष्ट आनन्दघनमूर्ति के रूप मे आप स्वय उन लोगो के हृदय मे शीघ्र प्रविष्ट होकर उन्हे अपनी अनन्य-भक्ति प्रदान करो, जिससे कि वे अन्तर्दृष्टि के लिए सुपात्र बन सके।

श्री अभिनन्दन जिन स्तवन

(राग-धन्याश्री सिधुओ-आज निहेजो रे दीसै नाहलो-ए देशी)

अभिनन्दन जिण दरसण तरसियै, दरसण दुरलभ देव ।
मत मत भेदे जो जइ पूछियै, सहु थापे अहमेव ।। अभि० ।।१।।

सामान्यै करि दरसण दोहिलूं, निरणय सकल विशेष ।
मद मे घेरयो हो आधो किम करै, रवि ससि रूप विलेष ।। अभि० ।।२।।

हेतु विवादे चित धरि जोइयै, अति दुरगम नयवाद ।
आगम वादे, गुरूगम को नही, ए सबलो विषवाद ।। अभि० ।।३।।

घाती डूगर आडा अति घणा, तुझ दरसण जगनाथ ।
धीठाई करि मारग संचरूँ, सैगू कोइ न साथ ।। अभि० ।।४।।

दरसण दरसण रटतौ जो फिरूं, तो रण-रोझ समान ।
जेहनै पिपासा अमृत पान नी, किम भाजै विष पान ।। अभि० ।।५।।

तरस न आवै मरण जीवन तणो, सीझै जो दरसण काज ।
दरसण दुर्लभ सुलभ कृपा थकी, 'आनन्दघन' महाराज ।। अभि० ।।६।।

४. श्री अभिनन्दन-स्तवनम्

सम्प्रदायो मे जैन दर्शन का अभाव :

श्रद्धा—वन्धु विवेक ! मुझे वहुत दुःख हो रहा है कि कई लाख सख्यक नामधारी जैन होने पर भी उनमे से अन्तर्दृष्टि की योग्यता रखने वाला तुम्हे एक भी सुपात्र नही मिल रहा है। तव तो प्राण विहीन कलेवर-सी ही जैन-दर्शन की स्थिति हो चुकी, क्योकि दर्शन-मोह को जीत कर अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति के विना तो अविरति सम्यक्-दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान मे प्रवेश ही नही हो पाता, जो कि जैन-दर्शन की एकाई है। अतः तुम्हे जैन द ंन का जड़ से ही उद्धार करना नितान्त आवश्यक है।

१ विवेक—अरी श्रद्धे ! मेरे दिल की व्यथा तुम्हे क्या वताऊँ ! जिनेश्वर भगवान ने सदैव अभिनन्दन के योग्य इस जैन दर्शन का जिस प्रकार निरूपण किया और जिस प्रकार उन्होने इसे स्वय अपने आचरण मे उतारा, उसी प्रकार अविरोध-रूप मे इसे देखने के लिए मैं तो कभी से तरस रहा हूँ, पर उसी प्रकार मे इस दर्शन के दर्शन होने की दुर्लभता को देख कर अपने दिल की दिल मे ही समाकर चुप हूँ, क्योकि यह दर्शन-परम्परा जीर्णप्रायः और खण्ड-खण्ड हो चुकी है। इसके प्रत्येक भेद-प्रभेदो के अधिनायक प्रायः विराधक वृत्ति प्रवाह मे वहने वाले तुच्छ वहिरात्म-पुरुप दिख रहे है। उन सभी के सभी नेताओ ने केवल दृष्टि-राग का प्रवल शासन जमा कर मोक्ष के प्रमाण-पत्र के रूप मे अमुक वेष-भूपा और अमुक क्रियाकाण्ड कायम करके अपना-अपना अखाड़ा वना लिया है। जहाँ केवल अपने ही अनुयायी के लिए 'समकित' की रसीद कटती है और अशेष भिन्न सम्प्रदायी 'मिथ्यात्वो' घोषित किये जाते है। प्रत्येक नेता के पास अलग-अलग रूप मे जाकर यदि उन्हे पूछा जाय कि 'वर्तमान मे जिनेश्वर भगवान की वीतराग परम्परा के मुख्य पट्टधर कौन है ? तो सभी के स्व-मुख से एक स्वर में यही जबाब

मिलता है कि—अहमेव अर्थात् हमी ह।' इतने पर भी वे सभी ज्ञातपुत्र वेशभूषा किंवा क्रियाकाण्ड की छोटी-छोटी बातो को लेकर परस्पर झगड़ते रहते है। फलतः एक तो उन्हे उक्त झगड़े और क्रिया-काण्ड से फुरसत नही, और दूसरे उन्हे ऐसे सुदृढ सस्कार है कि मुझ जैसे अैरो-गैरो के साथ बात करने पर उन्हे 'मिथ्यात्व' लग जाता है। तब मै क्यो सिर पचावूँ ?

२. इसी प्रकार विद्यमान सम्प्रदायों में दर्शन-सामान्य-रूप आचार मूलक धर्म-मर्यादा प्रधान जैन दर्शन दुर्लभ हो चुका। हे का दर्शन श्रद्धे ! अब मै तुम्हे दर्शन-विशेष-रुप विचार-मूलक जैन दर्शन के सम्बन्ध मे उन तत्त्वविदो के सभी प्रकार के निर्णयो को सुना कर क्यो व्यर्थ बकवाद करूं ! तुम इशारे मात्र से ही समझ लो कि चक्षु-दर्शनावरण के उदय में मात्र सुनी-सुनाई बातो की धारणा से ही यदि कोई जन्मान्ध सूर्य-चन्द्र के रूप का विश्लेषण करना चाहे तो वह कैसे करे ? वैसी ही तद्विपयक मतवादियो की हालत है।

३. न्यायदृष्टि से साध्य अर्थ को प्राप्त कराने वाले हेतुओ के विशेष कथन को चित्त मे अवधारण करके जैन-दर्शन-विशेष को यदि देखते है तो बीच मे नयवाद-स्थली की घाटी आती है। उसको पार करने का मार्ग इतना टेढ़ा-मेढा और सॅकरा है कि उस पर काणी आँख से देखकर चलने वाले तो तुरन्त ही चकरा कर गिर जाते है, और यदि असावधान हो तो ठीक नजर वालो की भी टाँगे ऊँची हो जाती है। तब भला ! केवल सूरदासो की कतारो के लिए वह मार्ग कितना दुर्गम होना चाहिए ? ठीक यही न्याय गम के बिना आगम-दृष्टि से चलने वालो पर लागू होता है, क्योकि सम्प्रदायो मे गुरुगम नही रही। इसीलिए इतना बलवान विखवाद सर्वत्र फैला हुआ है।

हे श्रद्धे ! यह मुझसे सहा नही जाता, अतः भगवान श्री अभि-नन्दन से नतमस्तक हो प्रार्थना करता हूँ कि :—

४. हे जगन्नाथ ! सम्प्रदाय वालो ने वेशभूषा, क्रियाकाण्ड और मत-ममत्व आदि आत्म-घातक अनेक पहाड़ के पहाड़ पटक कर आपके वीतराग सन्मार्ग का सर्वथा निरोध कर दिया है, फलतः सम्प्रदायो मे कही भी आपके दर्शन का अविरोध रूप मे दर्शन नही रहा अत· मै आपकी कृपा के फलस्वरूप प्राप्त आत्म-समाधि बल से उन सभी के सभी घाती-पर्वतो को लाँघकर कोई उत्तम मार्गारूढ सज्जन साथी के न मिलने पर भी केवल आपके सहारे एकाकी होकर आपके वीतराग पथ पर चलने की धृष्टता कर रहा हूँ । हे कारुण्यमूर्त्ते ! यदि इसमे स्वच्छन्द वश मेरी कोई गलती हुई हो, तो सन्मति देकर उससे मुझे छुड़वाईयेगा ।

५. प्रभो ! मैने बाध्य होकर साम्प्रदायिक प्रतिबन्धो का इसीलिए परित्याग किया कि आपके अमृत तुल्य वीतराग दर्शन विषयक यथार्थ दार्शनिक प्रभावना की धून वश मै यदि वहाँ दर्शन-दर्शन रटता हुआ जीवन भर भटकूँ, तो भी वह भटकन केवल रणभूमि के रोझ की तरह प्राणघातक ही सिद्ध होगी । क्योकि सम्प्रदायो मे हलाहल तुल्य कोई विखवाद के सिवाय और कुछ नही बचा । जिसे केवल अमृत-पान की ही प्रबल पिपासा सता रही हो, उसके पात्र मे यदि कोरे विष-पान की ही सामग्री परोसी जाय तो वह जानबूझ कर क्यो विष पान करे ? और यदि कर भी ले तो उसके प्राणो का अन्त हो किंवा पिपासा का अन्त ?

६ हे जिन वीतराग ! इसकाल इस क्षेत्र मे आपके वीतराग दर्शन की सागोपाग यथार्थ उपलब्धि यद्यपि दुर्लभ है, फिर भी यदि जीव एक बार साहस और सच्चाई के साथ आत्म-समर्पण करके अनन्य शरण हो आपका कृपापात्र बन जाय, तो उसे आज भी मार्गप्राप्ति सुलभ हो जाय । और यदि मार्गारूढ होकर अपना दर्शन कार्य सम्पन्न कर ले, तो जीवन-मरण के त्रास से सदा के लिए मुक्त होकर वह सिद्धपद पर आरूढ़ हो आनन्दघन महाराज बन जाय ।

श्री सुमति जिन स्तवन

(राग बसन्त या कैदारी)

सुमति चरण कँज आतम अरपण, दरपण जिम अविकार । सुग्यानी ।
मति तरपण बहु संमत जाणिये, परिसरपण सुविचार ।। सु० ।।१।।

त्रिविध सकल तनुधर गत आतमा, वहिरातम धुर भेद । सु० ।
वीजो अन्तर-आतम, तीसरो, परमातम अविछेद ।। सु० ।।२।।

आतम बुद्धे कायादिक ग्रह्यो, बहिरातम अघरूप । सु० ।
कायादिक नो साखीधर रह्यो, अन्तर आतम भूप ।। सु० ।।३।।

ज्ञानानन्दे पूरण पावनो, वरजित सकल उपाध । सु० ।
अतीन्द्रिय गुण गण मणि आगरू, इम परमातम साध ।। सु० ।।४।।

बहिरातम तजि अन्तर आतमा, रूप थई थिर भाव । सु० ।
परमातमनुं आतम भाववूं, आतम अरपण दाव ।। सु० ।।५।।

आतम अरपण वस्तु विचारतां, भरम टलै मति दोष । सु० ।
परम पदारथ सम्पति संपजै, 'आनन्दघन' रस पोष ।। सु० ।।६।।

५. श्री सुमति स्तवनम्

आत्म समर्पण रहस्य :

सत्पुरुष बाबा आनन्दघन साम्प्रदायिक प्रतिबन्धो से ऊँचे उठकर अवधूत आत्म-दशा मे विचरण कर रहे है। कोई एक मुमुक्षु, आत्म-ज्ञानी की खोज मे अनेक सम्प्रदायो की छानबीन करता हुआ एकाएक बाबा के सानिध्य मे उपस्थित हुआ। बाबा की आत्म-दशा ने उसे प्रभावित और प्रसन्न कर दिया। अपने समाधान के लिए अवसर पाकर उसने प्रश्न प्रस्तुत किया कि—भगवन्! आत्म कल्याण की कामना वश मैं सजीवनमूर्त्ति की खोज मे वर्षो से भटक रहा हूँ, और आत्म-समर्पण के लिए अनेक धर्म सम्प्रदायो के धर्म-गुरूओ से मिला, पर अब तक मुझे कही से भी तृप्ति नही हुई। कृपया आप बताईये कि अब मैं क्या करूँ ? आत्म-समर्पण कहाँ और कैसे करूँ ?

१. बाबा आनन्दघन—भव्यात्मन्! आत्म समर्पण तो वही होना चाहिए कि जिनकी मति सम्यक्, स्वरूपनिष्ठ और दर्पण की तरह स्वच्छ निरावरण हो, और जिनका आचरण जल-कमल की तरह निर्लेप हो। अर्थात् जो अनेक सन्मति मुमुक्षुओ के नाथ होने की योग्यता रखने वाले सुमति-नाथ हो।

सर्व प्रथम अपनी मति को सम्यक् स्वच्छता द्वारा तर्पण-संतुष्ट करने के लिए बहुत से दार्शनिक विचारको के सम्मत ज्ञातव्य को जान लेना आवश्यक है। तदनन्तर उस पर सद्-विचार द्वारा हेय, ज्ञेय और उपादेय का निर्णय करके उपादेय तत्व की उपलब्धि के लिये अपनी उपादान शक्ति को कारणता प्रदान करनी चाहिए जो कि निमित्त को कारणता दान करके उसे निमित्त-कारण बनाने पर ही सम्भव है। निमित्त को आत्म-समर्पण कर देना ही उसे निमित्त कारण बनाना है। निमित्त कारण को समर्पित आत्मा की उपादान-शक्ति का

क्रम-क्रम से व्यक्त कार्यान्वित होके रहना-यही उपादान को कारणता प्रदान करके उसे उपादान-कारण बनाना है। फलतः उपादान कारण ही बदलता हुआ उपादेय कार्य-रूप मे सिद्ध होता है। कर्त्तव्य-क्षेत्र मे कारण जितने पुष्ट हो, उतना ही पुष्ट कार्य होता है। अतः पुष्टि निमित्त-कारण के रूप मे भगवान सुमतिनाथ के चरण-कमलो मे आत्म समर्पण करके परिसर्पण करना अर्थात् मार्ग-दर्शक के पद-चिन्हो के सहारे सर्वथा उनके पीछे-पीछे चलते रहना, यही साधना-पथ मे पथिक के लिए अनिवार्य है।

मुमुक्षु—हे ज्ञानावतार! आपने जो भी फरमाया, वह अक्षरशः मेरे दिल मे जम गया, कृपया अब आत्म समर्पण का स्वरूप और विधि का रहस्य बताइये।

२. बाबा आनन्दघन—परमार्थतः विश्व मे सभी देहधारियो का आत्म-द्रव्य यद्यपि एक-सा है, फिर भी व्यवहार से उसकी तीन अवस्थाये देखने मे आती है। जिनमे से प्रथम अवस्था को बहिरात्मा, दूसरी को अन्तरात्मा और तीसरी को परमात्मा कहते है, जो कि आत्मा मे मोह और क्षोभ के परिपूर्ण-रूप मे होने से, न्यूनाधिक्य-रूप मे होने से एव सर्वथा न होने से होती है। उनमे से प्रथम की दोनो अवस्थाएँ मोह और क्षोभ रूप उपाधि को सर्वथा मिटाने पर मिट सकती है, किन्तु तीसरी परमात्मदशा मोह-क्षोभातीत होने से अमिट है।

३. आत्म विस्मरण पूर्वक जिसकी चेतना शरीर आदि नोकर्म, ज्ञानावरण आदि द्रव्य-कर्म, राग-द्वेष-अज्ञान आदि भावकर्म और सुख दुख आदि कर्म फलो मे आत्म बुद्धि से फैली हुई हो, फलत. जो अपने आपको पुरुष, स्त्री किवा नपुसक आदि शरीर के रूप मे ही प्रतीत कर रहा हो। अतएव वह शरीर और चेतना के पारस्परिक सम्बन्ध को एक-रूप मे अनुभव करने वाला 'मिथ्यात्वी' मोह-क्षोभ वश समरस

स्वभाव को नाश करने वाला 'आत्मघाती' एवं जन्म मरण रूप पाप-भूमि का पोषक आत्मा ही बहिरात्मा है। और जो इस बहिरात्म-दशा को मिटाकर उपरोक्त शरीर आदि का साक्षी मात्र हो, उनमें फैली हुई अपनी चेतना को लौटाकर उसे अन्तमुंख प्रवाह से आत्म प्रतीति, आत्मलक्ष किंवा आत्मानुभूति-धारा के रूप मे अपने चेतन तत्त्व मे समा रहा हो—वह आत्मा अन्तरात्म-स्वरूप है।

४. जो स्वाधीन ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण हो, राग आदि समस्त उपाधि भावो से परिमुक्त होने से पवित्र चरित्रवान् एव सकल कर्म क्षय हो जाने के कारण जिनके अनन्त अतीन्द्रिय गुण मणियो से भरे हुये क्षायिक नव-निधान प्रकट हो चुके हो—वह आत्मा ही परमात्मा है।

इस प्रकार आत्मा की जो ये तीनो अवस्थाये बताई, उनमे से तीसरी परमात्म-दशा ही साधक आत्मा का साध्य है। जिसकी सिद्धि के लिए आत्म समर्पण का दाँव लगा देना साधक के लिए नितान्त आवश्यक है।

५. आत्म समर्पण का दाँव लगाने की विधि निम्न प्रकार है :—

प्रथम सत्संग द्वारा उपर बताये लक्षणो से तीनो ही अवस्था युक्त आत्मा की समझ को सही कर लेना चाहिए। बाद मे बहिरात्मदशा का सर्वथा परित्याग करके चैतन्य भावो की अन्तरात्मा के रूप मे स्थिरता कर लेनी चाहिए। उस स्थिति मे परमात्म-दशा के एकाग्र ध्यान पूर्वक शुद्ध आत्म-भावना की निष्ठा द्वारा आत्मा को सतत प्रभावित करते रहना, यही आत्म समर्पण का दाव लगाना है। जिस दाँव के लगाने पर आत्मा मे ही परमात्म-दशा का अभेद अनुभव रूप आत्म-साक्षात्कार होता है।

६. इस तरह इस आत्म समर्पण नामक तत्त्व विचार के फल

स्वरूप आत्म-भावना की निष्ठात्मक आराधना पद्धति के क्रमिक विकास से आत्म भ्रान्ति सर्वथा मिट जाती है जो कि केवल मति का ही दोष है। भ्राति के मिटने पर क्रमशः आत्म प्रतीति, आत्म लक्ष और आत्मानुभूति की अखण्डता सधने पर अनन्त दर्शन अनन्त ज्ञान, अनन्त समाधि, अनन्त वीर्य आदि समस्त आत्म वैभव युक्त, परमात्म पद—मोक्ष पद की प्राप्ति होती है कि जहाँ चैतन्य रस के सघन आनन्द का ही केवल पोषण है।
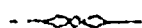
श्री पद्मप्रभ जिन स्तवन

(राग-मारू तथा सिन्धु : चाँदलिया संदेशो कहिजे म्हारा कंतने रे, एदेशी)

पदमप्रभु जिन तुज मुझ आंतरौ, किम भांजै भगवन्त ।
करम विपाके कारण जोइने, कोई कहै मतिवन्त ॥ पदम० ॥१॥

पयइ ठिई अणुभाग प्रदेशथी, मूल उत्तर बहु भेद ।
घाती अघाती बंधोदयोदीरणा, सत्ता करम विच्छेद ॥ पदम० ॥२॥

कनकोपलवत पयडी पुरुष तणी, जोड़ि अनादि सुभाय ।
अन्य संजोगी जहँ लगी आतमा, संसारी कहवाय ॥ पदम० ॥३॥

कारण जोगे बांधे बंधनै, कारण मुगति मुकाय ।
आश्रव संवर नाम अनुक्रमे, हेयोपादेय सुणाय ॥ पदम० ॥४॥

जुंजन करणे अंतर तुझ पड्यो, गुण करणे करि भंग ।
ग्रन्थ उक्ति करि पंडित जन कह्यो, अन्तर भंग सुअंग ॥ पदम० ॥५॥

तुझ मुझ अन्तर अन्तए भांजसे, वाजस्यै मंगल तूर ।
जीव सरोवर अतिशय वाधिस्ये, 'आनन्दघन' रस पूर । पदम० ॥६॥

६. श्री पद्मप्रभु स्तवनम्

परमात्मा के प्रति अन्तरात्मा की पुकार :

१. सत्पुरुष बाबा आनन्दघन की अन्तरात्मा, परमात्मा पद्मप्रभु के प्रति पुकार कर रही है कि हे जिनेश्वर ! आपके और मेरे बीच मे जो यह अन्तर है, वह कैसे मिटे ? भगवन् ! अब तो यह दूरी मुझसे सही नही जाती। तब यकायक आकाशवाणी हुई।

आकाशवाणी—हे अन्तरात्मा ! अपने पारस्परिक अन्तर का कारण तो तुम्हारा कर्म परिणाम है। इस कर्म परिणाम के रहस्य को यदि समझना है, तो कर्मविपाक के प्रतिपादक शास्त्रो को देखो, जिनमे श्रुतज्ञानी सत्पुरुषो ने कहा है कि :—

२ कर्म परिणाम दो तरह के है, एक चिद्विकार-रूप और दूसरे जड़-विकार-रूप। ये दोनो ही चेतन और जड़-पुद्गलो के पारस्परिक निमित्त से होते है। चिद्विकार-राग, द्वेष और अज्ञानमूलक है जिन्हे भाव-कर्म कहते हैं, और जड़-पुद्गलविकार कार्मण तथा औदारिक आदि रूप है, जिन्हे क्रमशः द्रव्य कर्म और नोकर्म कहते है। आत्म-प्रदेश स्थित क्षीर-नीर वत् इस त्रिवेणी सगम को बन्ध कहते है।

द्रव्य कर्म का बन्ध चार प्रकार की परिस्थितियो को लेकर होता है।

(१) प्रदेश बन्ध—जीव कृत आत्म प्रदेश-कम्पन के अनुरूप नियत संख्या में कार्मण पुद्गल-स्कन्धो का गैस होकर अनुभव-प्रमाण चैतन्य प्रदेश मे सर्वांग फैल जाना।

(२) स्थिति बन्ध—जीव की कम्पन कालीन भावना के अनुरूप उस गैस का बादल के रूप मे वही नियत काल-मर्यादा को लेकर टिकना।

(३) अनुभाग-रस-बन्ध—जीव की शुभाशुभ भावना के फल

स्वरूप चेतन-सत्ता को आकुलता प्रदान करने के लिए उस गैस मे क्षमता का होना।

(४) प्रकृति-बन्ध—जीव के शुभाशुभ भाव-रस की विविवता और तारतम्य के अनुरूप चैतन्य-प्रदेश मे मोह आदि विभावो का आविर्भाव और ज्ञान आदि स्वभावो का तिरोभाव कराने वाली उस गैस की क्षमता मे स्वभाव-वैचित्र्य का होना।

प्रकृति-बन्ध के स्थूल-रूप मे मूल भेद ८ और अन्तर भेद १४८ किंवा १५८ हैं। जबकि सूक्ष्म-रूप मे वह अनन्त प्रकार का है। प्रकृति-बन्व के मूल आठ भेदो मे से क्रमशः ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चारो घाती एव वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु ये चारो अघाती कहलाते हैं। घाती कर्म आत्मा के ज्ञान आदि अनुजीवी गुणो को तिरोहित करते है, जवकि अघातीकर्म अव्यावाघ आदि प्रति-जीवी गुणों को। आत्मा के अस्ति-रूप गुणो को अनुजीवी और नास्ति-रूप गुणों को प्रतिजीवी कहते हैं।

चैतन्य-प्रदेश मे कर्म-बादल के रूप मे कार्मण्य गैस की सदवस्था को कर्म-सत्ता, स्थिति की परिपक्व दशा मे होने वाले उसके विस्फोट को कर्म उदय और अपरिपक्व दशा मे होनहार विस्फोट को कर्म उदीरणा कहते है। कर्म-सत्ता मे जिस समय मे जिस गैस-अणुसमुदाय का जितने परिमाण मे विस्फोट होता है, उस समय उतने ही परिमाण मे वह गैस-अणु-समुदाय चेतन सत्ता से अलग होकर विखर जाता है।

इसी प्रकार कार्मण्य-गैस-अणु-समुदाय का बन्ध और विस्फोट, चेतन की शुभाशुभ कल्पना की निरन्तरता के कारण चैतन्य-प्रदेश मे निरन्तर हुआ करता है, फलतः चेतन भी इसी कर्म-धारा मे निरन्तर बहता हुआ ससार सागर मे गोता खा रहा है।

३. चेतन इस कर्म-धारा के सतति प्रवाह मे न जाने कब से बह रहा है, इसका कोई पता ही नही है जैसे खदान मे सुवर्ण और पत्थर

का संयोग किसी का किया हुआ नहीं, वह तो पहले से ही स्वाभाविक है, वैसे ही उपरोक्त कार्मण-शरीर रूप प्रकृति पिण्ड और चैतन्य-पुरुष की जोड़ी का सम्बन्ध भी अनादि का स्वाभाविक ही है। और इस अनादि कालीन सयोगी स्थिति मे आत्मा जब तक रहता है तब तक वह संसारी कहलाता है।

४. यह संसारी-बन्ध स्थिति—(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय और (५) योग, इन पॉच कारणो से टिकी हुई है। इन बन्ध कारणो के प्रयोग द्वारा ही आत्मा स्वय कर्म-बन्धनो से बँधता है, और यदि इन कारणो को छोड़ दे तो वह उन बन्धनो से मुक्त होता है। शास्त्रीय परिभाषा मे इन बन्ध-कारणो के प्रयोग का नाम आश्रव ओर वियोग का नाम सवर बताया गया है, जो कि क्रमश त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य है।

५. तेरे और मेरे बीच जिन-जिन कारणो से जो-जो अन्तर पड़ गया है, वह-वह अन्तर गुणकरण से मिटाया जा सकता है। जैसे कि मिथ्यात्व के कारण पडे हुये आत्म-प्रतीति के अन्तर को सम्यक्त्व से, अविरति के कारण पड़े हुये आत्म-लक्ष के अन्तर को प्रवृत्ति-मांत्र मे आत्म-लक्ष की अखण्डता रखाने वाली सर्वविरति से, इसी तरह प्रमाद जन्य अन्तर को अप्रमत्त-अनुभूति से, कषाय जन्य अन्तर को क्षपक-श्रेणी आरोहण से और योग जन्य अन्तर को शैलेशी करण से मिटाया जा सकता है। इसी तरह इन पाँचो ही प्रकार से अन्तर को सर्वथा मिटाने पर तुम शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वयज्योति सुखधाम स्वरूप अपने सिद्ध-पद पर आरूढ़ होते ही हमसे ऐसे मिल जाओगे जैसे कि ज्योति मे ज्योति। फिर भी उस एकाकारता मे (सुअग) स्व द्रव्य का स्वरूप-अस्तित्व नही मिटता जैसे कि चन्द्र-सूर्यादि का बिम्ब। इसी तरह इस रहस्य को प्रज्ञावान ज्ञानियो ने चमत्कारपूर्ण निरूपण से सद्ग्रन्थो मे बताया है।

(६) हे अन्तरात्मा! तेरे और मेरे बीच का बहुत-सा अन्तर तो

मिट चुका है, अब रहे सहे अन्तर को मिटाने के लिये तुम प्रबल पुरुषार्थ करते रहो। मैं तुम्हे विश्वास दिलाता हूं कि आखिर अपना यह पारस्परिक अन्तर सर्वथा मिट जायेगा। यद्यपि तुम्हारे प्रमाद तक के आंशिक विजय के उपलक्ष मे अभी भी अप्रमत्त दशा के अनाहत बाजे तो बज ही रहे है, पर ज्यो-ज्यो सातिशय-अप्रमत्त बन कर तुम क्षपक-श्रेणि पर आरूढ होवोगे त्यो-त्यो ज्ञानातिशय, पूजातिशय, वचनातिशय और अपायापगमातिशय आदि के विलक्षण बॉध द्वारा जीव सरोवर की पालि अत्यन्त सुदृढ बन्ध जायगी। ज्यो-ज्यो बाँध-बधता जायगा, त्यो-त्यो उसमे आत्मानन्द की सघन वृष्टि जन्य चैतन्य-रस की बाढ आयेगी, फलतः बॉध की पूर्णता मे जीव-सरोवर आनन्द-रस से लबालब होकर लहराने लग जायगा। ऐसा होते ही सम्पूर्ण कैवल्य विजय की सुमगल देव-दुदुभि भी बजने लग जायगी।

श्री सुपार्श्व जिन स्तवन

(राग-सारंग मल्हार, ललमानी देशी)

श्री सुपास जिन वंदिये, सुख सम्पत्ति नो हेतु । ललना ।
शांत सुधारस-जलनिधि, भवसागर माँ सेतु । ललना ॥१॥

सात महामय टालतो, सप्तम जिनवर देव । ललना ।
सावधान मनसा करी, धारो जिन पद सेव । ललना । श्री सु० ॥२॥

सिव संकर जगदीश्वरु, चिदानन्द भगवान । ललना ।
जिन अरिहा तीर्थङ्करु, ज्योति स्वरूप असमान । ललना । श्री सु० ॥३॥

अलख निरंजन वच्छलू, सकल जन्तु विसराम । ललना ।
अभयदान दाता सदा, पूरण आतम राम । ललना । श्री सु० ॥४॥

वीतराग मत कल्पना, रति अरति भय सोग । ललना ।
निंद्रा तन्द्रा दुरदसा, रहित अबाधित जोग । ललना । श्री सु० ॥५॥

परम पुरुष परमातमा, परमेसर परधान ।
परम पदारथ परमेष्ठी, परमदेव परमान । ललना । श्री सु० ॥६॥

विधि विरंचि विश्वंभरु, ऋषीकेस जगनाथ ।
अघहर अघमोचन धणी, मुगति परमपद साथ । ललना । श्री सु० ॥७॥

इम अनेक अभिधा धरै, अनुभव गम्य विचार ।
जे जाणै तेहनै करै, 'आनन्दघन' अवतार । ललना । श्री सु० ॥८॥

७. श्री सुपार्श्व जिन-स्तवनम्

भगवान के विविध नाम-रूपो का रहस्य :

एक बार कोई दशनामी सम्प्रदायो के अनुयायी परस्पर मिल कर धर्म-चर्चा कर रहे थे। प्रत्येक सम्प्रदाय वाले अपनी-अपनी मान्यतानुसार ही ईश्वर की महत्ता सिद्ध करने मे प्रयत्नशील थे, फलतः उस चर्चा ने विवाद का स्थान ले लिया। उस विवाद को समीप से जाते हुये बाबा आनन्दघनजी ने सुना, सुनते ही वे वही खडे हो गये। सभ्य-व्यक्तियो ने उनकी अद्भुतदशा का स्वागत किया और कोलाहल को शान्त करते हुये यह प्रस्ताव पास किया कि इस विषय मे हमे बाबा ही समाधान दे, क्योकि हमे विश्वास है कि आप मध्यस्थ सन्त है। बाबा ने लाभालाभ का कारण देखकर वह बात मजूर कर ली।

सभ्य—महात्मन् ! आध्यात्मिक सुख-सम्पत्ति की प्राप्ति के लिये हमे किस भगवान को सर्वोपरि आराध्य के रूप मे स्वीकार करना चाहिए ? कृपया आप अपने अनुभव बल से इस तथ्य पर प्रकाश डालिये।

आनन्दघन—प्यारे पुत्रो ! सर्व प्रथम ईश्वर क्या है और कहाँ है, इस तथ्य को समझ लेना आवश्यक है। राग, द्वेष और अज्ञान से मुक्त केवलज्ञान आदि समस्त आत्मैश्वर्य युक्तता ही ईश्वर का स्वरूप है। वह जगत कर्त्ता नही, प्रत्युत भक्त-हृदय-स्थित अह भाव को मिटाने के लिये साक्षीकर्त्ता माना गया है। क्योकि विश्व की प्रत्येक घटना ज्ञान किंवा अज्ञान रूप मे किसी न किसी ससारी जीव की बुद्धि और प्रयत्न की ही आभारी है। जीवो से भिन्न और कही भी ईश्वर तत्त्व नही है, प्रत्युत प्रत्येक जीव मे ही ईश्वरीय शक्ति मौजूद है। जो कि तत्वचिन्तन और जीवन-शुद्धि से व्यक्त हो सकती है। शुद्ध जीवन को ही जिनदशा कहते हैं और जो जिनदशा युक्त हो वही ईश्वर कहलाता है।

१. आध्यात्मिक सुख-सम्पत्ति की प्राप्ति के लिये तो हमे ईश्वर की जिनदशा ही अभीष्ट, वन्दनीय और आराधनीय होनी चाहिये। क्योकि उस दशा मे राग, द्वेष और अज्ञान आदि का अत्यन्ताभाव और ज्ञान आदि समस्त आत्मैश्वर्य का सम्पूर्ण शुद्ध और स्थायी आविर्भाव है। अजी! आविर्भाव ही नही प्रत्युत जिनदशा के (पार्श्व=) अगल-बगल सर्वत्र अनन्त अपार (सुपास) सुख ही सुख और आराम ही आराम है। अतः उस दशा मे हो ईश्वर सुपार्श्व-सुपास जिन कहलाते है।

भगवान सुपार्श्वनाथ परम शान्ति को प्रदान करने के लिये तो मानो साक्षात् सुधारस के ही समुद्र है, और जबकि भवसागर को पार होने वालो के लिये वे ही पृथ्वी-शिलामय पुल है।

२. इस अवसर्पिणी काल के चौवीस तीर्थङ्कर देवों मे से वे जिनवर सातवे गिने जाते है। उनके शरण मे जाने पर (१) इस लोक का भय, (२) परलोक का भय (३) वेदना भय (४) अरक्षा भय (५) अगुप्ति भय (६) आकस्मिक भय (७) मरण-भय—इन सात प्रकार के महाभयो को साधकीय हृदय मे से वे भगा देते है। अतः लाला! तुम सब अपने हृदय-कमल मे उनके चरण-कमलो को स्थापन करके एकाग्र और सतर्क मन से निरन्तर उनकी ही आराधना करो।

३. लाला! अधिक क्या कहूँ? किसी भी नाम-रूप मे एक उन्हे ही भजो, क्योकि अभिधा-शक्ति से वे अनेक गुणनिष्पन्न नाम-रूपो को धारण किये हुये है। जैसे कि—

कर्मोपद्रव निवारक होने से शिव, सुखकर्ता होने से शकर, जगत मे सर्वोत्कृष्ट एश्वर्यवान् होने से जगदीश, समस्त चिन्मय समृद्धि वाले होने से चिदानन्द, केवल ज्ञान-स्वरूप होने से भगवान, राग आदि शत्रुओ को जीतने वाले होने से जिन, विश्व-पूज्य होने से अर्हन्, तिरने के उपाय-रूप मे जगमतोर्थ-साधु सस्था, मानसतीर्थ—अहिंसा, सत्य

आदि, और स्थावरतीर्थ—तपोभूमि आदि के नियामक होने से तीर्थङ्कर सर्वांग निर्मल ज्योतिपिण्ड-रूप होने से ज्योतिस्वरूप, उस काल उस क्षेत्र मे अद्वितीय होने से असमान।

४. वहिर्दृष्टि से अलक्ष्य होने से अलख, कर्म कालिमा से मुक्त होने से निरजन, सारे विश्व के लिए हितकारी होने से जग-वत्सल, किसो के भी जीवितव्य को नही मिटाने वाले होने से सकल जन्तु विश्राम, सदैव मृत्युरोग का औषध देकर उसे मिटाने वाले होने से अभयदान-दाता, पूणतः आत्म-स्वरूप मे ही रमण करने वाले होसे से पूर्ण आत्माराम।

५ राग रहित होने से वीतराग, उन्मत्तता कल्पना-तरग सुख-दुख-बुद्धि, भय-शोक निद्रा आलस्य आदि दुष्ट परिणाम दशा से मुक्त होने से अबाधित-योगी।

६. पुरुषार्थी-पुरुषो मे सर्वोत्कृष्ट होने से परम पुरूष, बहिर्अन्तर परम इन तीनो ही आत्म दशा मे उत्कृष्ट होने से परमात्मा, आत्मैश्वर्य-वानो में उत्कृष्ट होने से परमेश्वर, सभी के अग्रसर होने से प्रधान, मोक्ष-पद के उत्कृष्ट रहस्य को पाने वाले होने से परम-पदार्थ, सभी के लिए उत्कृष्ट भाव से वॉछनीय होने से परमेष्ठी, सभी देवो में उत्कृष्ट देव होने से परम देव, सम्पूर्ण ज्ञानी होने से परिज्ञानी।

७. विश्व मे सभी प्राणियो का भाग्य निर्माण प्रभु की आराधना-विराधना पर ही निर्भर है, आराधना-विराधना के तीव्र-मन्द तारतम्य से भाग्य का तारतम्य है और भाग्य-तारतम्य के अनुरूप ही यह सृष्टि-रचना क्रम एव प्राणी मात्र का पोषण-क्रम स्वाभाविक चल रहा है, अतएव भाग्य निर्माण, सृष्टि रचना और जीवन पोषण मे भगवान ही निमित्त होने से विधि-विधाता, विरची-ब्रह्मा, विश्वभर, आध्यात्मिक और भौतिक तत्वो को साक्षात् करने वाले ऋषि पुत्रों के ईश होने से ऋषीकेश, जगत को अनाथता से छुडाने वाले होने से जगनाथ, आत्म-

घातक मिथ्यात्व आदि पापो को स्वय हरण करके उनसे साधको को छुड़ाने वाले धणी-धोरी होने से अघहर, अघमोचन, धणी-धोरी और भ्रान्ति-मुक्ति, अज्ञान-मुक्ति, असमाधि-मुक्ति, विदेह मुक्ति आदि मुक्ति-पदो मे से सर्वोत्कृष्ट परिनिर्वाण-पद को प्राप्त करने वाले योगी होने से मुक्ति परमपद साध भी वे ही है।

८. इस तरह शब्दों का सीधा-साधा अर्थ बतलाने वाली अभिधा-शक्ति की दृष्टि से अनेक गुण निष्पन्न नामो को धारण करने वाले भगवान एक वे ही है, पर व्युत्पत्ति मूलक वह भगवन्नाम रहस्य केवल अनुभवगम्य होने से सभी को समझने मे नही आता, अतः सद्गुरु कृपा से गुरुगम पूर्वक इस रहस्य को समझ कर यदि कोई भगवान की इस जिनदशा की लक्ष्य पूर्वक आराधना करे तो उसके हृदय मे भगवान स्वय आनन्दघन के रूप मे अवतरित हो कर उसे भी आनन्दघन बना दे।

श्री चन्द्रप्रभ जिन स्तवन

(राग केदारो, गौडी-कुमरी रोवै आक्रन्द करै, मुनै कोई मुकावै—ए देशी)

चन्द्रप्रभ मुखचन्द सखी मुनै देखण दे, उपसम रस नो कद । सखी० ।
सेवै सुरनर इन्द, सखी०, गत कलिमल दुख दंद ।। सखी० ।।१।।

सुहम निगोदे न देखियो, सखी०, बादर अतिही बिसेस । सखी० ।
पुढवी आऊ न लेखियो, सखी०, तेऊ वाऊ न लेस ।। सखी० ।।२।।

वनसपती अति घण दिहा, सखी०, दीठो नही दीदार । सखी० ।
बि ती चौरिंदी जल लीहा, सखी०, गति सन्नी पण धार ।। सखी० ।।३।।

सुर तिरि निरय निवास मां, सखी०, मनुज अनारज साथ ।
अपज्जता प्रतिभास मां, सखी०, चतुर न चढियो हाथ ।। सखी० ।।४।।

इम अनेक थल जाणिये, सखी०, दरसण विन जिनदेव । सखी० ।
आगम थी मति आणिये, सखी०, कीजे निरमल सेव ।। सखी० ।।५।।

निरमल साधु भगति लही, सखी०, जोग अवंचक होय ।
किरिया अवचक तिम सही, सखी०, फल अवंचक जोय ।। सखी० ।।६।।

प्रेरक अवसर जिनवरु, सखी०, मोहनीय खय थाय । सखी० ।
कामित पूरण सुरतरु, सखी०, 'आनन्दघन' प्रभु पाय ।। सखी० ।।७।।

८. श्री चन्द्रप्रभ स्तवनम्

भवान्तर दर्शन और सजीवन मूर्त्ति के प्रत्यक्ष योग की कामना :

१. अप्रमत्तयोगी सन्त आनन्दघनजी की अन्तरात्मा कैवल्यदशा प्रधान अपने सम्पूर्ण निरावरण स्व-स्वरूप-दर्शन के पुष्ट निमित्तकारण के रूप मे सर्वज्ञ भगवान की प्रत्यक्ष निश्रा को पाने के लिये छटपटा रही है। उसके बिना इसे क्षणभर भी कही चैन नही है, अतः भावावेश मे आकर अपनी अनुभूति को कह रही है कि—

हे सङ्गिनी ! या तो तूं ज्ञान धारा मे अखण्ड स्थिर रह कर अपने सर्वथा निरावरण स्व-स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन करादे अथवा मार्ग-दर्शक के रूप में सर्वज्ञ भगवान श्री चन्द्रप्रभ स्वामी के सर्वथा निरावरण मुख-चन्द्र को किसी भी तरह एक बारगी प्रत्यक्षरूप मे मुझे दिखलाने की व्यवस्था कर कि जो प्रभु केवल प्रशम-रस के ही कन्द है क्योकि जिनके सभी प्रकार के कल्पना-क्लेश, कर्म-मल और जीवन-मरण आदि दुख-द्वन्द्व सर्वथा मिट गये है। अतएव जिनकी कोटानुकोटी देव-देवेन्द्र और नर-नरेन्द्र अनवरत सेवा कर रहे है।

दोनो मे से एक भी उपाय मे यदि तू विलम्ब करेगी तो शायद मेरे प्राण-पखेरू उड़ जायेगे, अतः शीघ्र कर।

अनुभूति—हे अन्तरात्मा ! धैर्य रखो, उतावल मत करो, कर्म-स्थिति-बन्ध शिथिल होने दो, तब तक सभी महात्माओ को प्रतीक्षा करनी पड़ी है।

अन्तरात्मा—कितना धैर्य रखूं ? क्योकि उक्त दर्शन के बिना ही मैने अनादि से अब तक का काल व्यर्थ गॅवा दिया, और कैसी विषम परिस्थितियो मे से मुझे गुजरना पड़ा—जिनका स्मरण हो जाने से अब कैसे जीना ? यह चिन्ता हो रही है।

२ मुझे असीम काल तक सूक्ष्म-निगोदिया के स्वॉगो मे रहना पड़ा

था। वहाँ के शरीर इतने सूक्ष्मतम और निकृष्टतम उत्सगपूर्ण थे कि एक ही शरीर मे अनन्त जीव ठूंसे हुये रहते थे। सभी के श्वासोश्वास और आयु समान था। आयु भी इतना स्वल्पतम था कि स्वस्थ मानव के एक ही श्वासोश्वास जितने समय मे हम सभी के सभी सतरह-अठारह बार जन्म-मरण के कष्ट वही के वही सहते थे। वैसे असंख्य शरीर एक ही गोले मे बन्द किये हुये थे। वह गोला भी इतना सूक्ष्मतम था कि उसके गमनागमन को कोई ठोस चीज भी नही रोक सकती थी, अतः उसे चर्म-चक्षु नही देख सकते। वैसे असख्य गोले काजल की कुप्पी की तरह सारे विश्व मे भरे हुये है। उस दशा मे मुझे कभी भगवान के आसपास भटकने का मौका मिलता था, इतने पर भी योग्यता न होने के कारण मुझे भगवान के दर्शन न हो सके। फिर कभी मौका पाकर कन्द आदि वादर-निगोदियो की श्रेणी मे मेरी भर्ती हुई। तब तो भगवान से मेरी अत्यन्त विशेष दूरी हो गई। वहाँ मुझे दूसरे देहधारी असीम काल तक तरह-तरह के कष्ट देते थे। वाद मे कभी नाना प्रकार की पृथ्वी के तो कभी जल के, एव कभी अग्नि के तो कभी वायु के असख्य प्रकार के स्वाँगो मे बहुत लम्बे अरसे तक मुझे रहना पड़ा कि जहाँ चराचर सभी देहधारियो ने अच्छी तरह से मेरी मिट्टी पलीत की। उस स्थिति मे विधाता ने मेरे ललाट मे प्रभु-दर्शन विपयक जरा सा भी लेख नही लिखा।

३. तदनन्तर अनाज, सब्जी, फल आदि प्रत्येक-वनस्पति के असख्य स्वाँगो मे खाँडना, पीसना, काटना आदि के द्वारा चलते फिरते देहधारियो ने सुदीर्घ काल तक मेरी बड़ी दुर्दशा की। उपरोक्त सभी शरीर केवल स्पर्शेन्द्रिय की व्यक्तता वाले थे।

फिर क्रमशः अलस आदि दो-इन्द्रियो वाले, चीटी आदि तीन-इन्द्रियो वाले और मक्खी आदि चार-इन्द्रियो वाले तरह-तरह के असख्य स्वाँगो मे मैंने अनेकानेक वार जन्म-मरण आदि त्रास सहे।

फिर कभी जल लकीर के समान क्षण-विनश्वर आयु वाले पशु-पक्षी के मल-मूत्र से उत्पन्न समूर्च्छिम मन रहित असंज्ञी तिर्यंच-पचेन्द्रियो के स्वाँगो मे भी मुझे अपार कष्ट सहने पड़े। पर इन सभी स्वाँगो में मैंने (दीदार=) देखादेखी के रूप मे भी कभी भगवान को नही देखा। इस तरह उपरोक्त स्वाँगात्मक असज्ञी-घाटी को किसी तरह पार करके मैंने सज्ञी-घाटी की ओर अपनी गति बढाई कि जहाँ मन युक्त पाँचो ही इन्द्रियो वाले स्वाँग धारण किये जाते है।

४. असज्ञी घाटी के सीमा प्रान्त मे मानव-मलमूत्र से उत्पन्न समूर्च्छिम सूक्ष्म शरीर-रूप मन रहित मनुष्य (प्रतिभास=) आकृति वाले विविध स्वाँगो का ग्रहण-त्याग करते हुये बड़ी मुश्किल से उसे पार करके मैने सज्ञी-घाटी की तराई मे प्रवेश किया और वहाँ देखा तो सातो ही प्रकार के नारको के स्वाँगो मे जो जो कष्ट है उन्हे व्यक्त करने के लिए भी वाणी मे क्षमता नही है। घाटी के मध्य विभाग में तिर्यंच पशु-पक्षियो के कष्टो की हालत तो प्रायः जग-जाहिर ही है। गर्भदशा मे ही गलने वाले अपर्याप्त पशु, पक्षी और मानव स्वाँगो मे भी कोई कम कष्ट नही है। इन सभी स्वाँगो मे भी पारावार कष्ट सहते हुये मैने दीर्घ काल बिताया। फिर महान कष्टप्रद इन लम्बी घाटियो को किसी तरह पार करके सामान्य कष्ट-समरागण मे प्रवेश किया।

पर्याप्त-गर्भज मनुष्यो मे से अनार्य मानवो के सम्बन्ध वाले स्वाँगो मे भी कई बार आया, पर वहाँ मुझे धर्म-अधर्म का विवेक नही था। इसी तरह कुदेव के स्वाँग भी बहुत बार धारण किये, पर वहाँ भी विषय वासना वश नाज-नखरे और खेल-कूद से मुझे फुरसत नही थी। इन सब कारणो से तब तक मुझे कोई निपुण सजीवनमूर्ति हाथ ही नही आये।

५. हे सगिनी! तुम निश्चित-रूप मे जान लो कि उपर्युक्त ऐसे बहुत से स्थान हैं कि जहाँ जिनेन्द्र-देव के जैन दर्शन का भी दर्शन नही हो पाता, तब भला जिनदेव का दर्शन कैसे हो?

सौभाग्य वश मुझ यह अपूर्व मानव-स्वाँग मिला कि जिसमें अपूर्व जैन दर्शन की वास्तविक उपलब्धि हुई, और तेरे सहारे बीज-कैवल्य दशा मे प्रवेश करके अप्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त स्थिति भी प्राप्त कर ली, पर मार्ग के बीच मे ही रुके रहना मुझे किसी तरह भी अभीष्ट नही, अत तू या तो आगे का रास्ता दिखादे अथवा रास्ता दिखलाने वाले को मुझे मिला दे।

अनुभूति—हे अन्तरात्मा ! अब आगे का मार्ग और मार्ग-दर्शक के विषय मे आगमो से तुम स्वय जान कर अपने मन में निश्चित करलो और निर्मल भक्ति करो।

६. अजी ! तुम जानते ही हो कि पारमार्थिक दृष्टि से साध्य की सिद्धि के लिये आगमो मे योगावञ्चक, क्रियावञ्चक और फलावञ्चक-रूप अवञ्चक-त्रयी को अनिवार्य बताया गया है।

जिनका कर्म-मल गल गया हो वैसे निष्काम साधु-पुरुष सजीवन मूर्ति का प्रत्यक्ष मिलना और शुद्ध मन वचन-काय से साधक का उनके चरणो में समर्पित हो जाना—यही अवञ्चक-गुरू का योग अवञ्चक है, क्योकि गुरु यदि सकामी होगा तो वह परमार्थ की दुहाई देकर शिष्य को ठग लेगा, अतः वाञ्च्छापूर्ण गुरु के मिलने को वञ्चक योग कहा है जो कि मुमुक्षु के लिये अभीष्ठ नही है।

सद्गुरु की आज्ञानुसार शिष्य की मानसिक, वाचिक और कायिक शुद्ध प्रवृत्तियो द्वारा निष्काम-भक्ति का होना यही अवञ्च्छक शिष्य की भक्ति-क्रिया अवञ्चक है। यदि शिष्य के हृदय में कोई भी सासारिक कामना है तो क्रिया भी तदनुसार कामनापूर्त्ति के लिये संसार मूलक होगी जो कि आत्म-वञ्चना है अतः वह मुमुक्षु के लिये अभीष्ठ नही है।

इस तरह योग-अवञ्चक द्वारा निमित्त को निमितकारणता और क्रिया-अवञ्चक द्वारा उपादान को उपादान कारणता मिल जाने पर पारमार्थिक कार्य सिद्धि-रूप क्रिया-फल भी अवञ्च्छक, अवञ्चक और

अबन्ध्य ही होता है। क्योंकि जसा कारण वैसा ही कार्य होता है। जिस क्रिया फल से मोक्ष तक की चाह और चतुर्गति-परिभ्रमण मिट जाता हो वह फल-अवञ्चक किंवा अवञ्च्छक है।

७. हे अन्तरात्मा ! अपने को अवञ्चक-योग के रूप मे प्रेरक-तत्व की अनिवार्यता है, और सर्वज्ञ श्री जिनेश्वर भगवान के प्रत्यक्ष योग के बिना उसकी पूर्ति का होना असभव है, जबकि वैसे प्रत्यक्ष-योग का इस काल इस क्षेत्र मे सर्वथा असम्भव है। अतः उस अवसर की प्रतीक्षा करना तुम्हारे लिये नितान्त आवश्यक है कि जिस अवसर मे साक्षात् जिनेश्वर भगवान ही हमे प्रेरक-रूप मे मिल जॉय। उनके चरण-शरण मे जाकर उनका अनुसरण करने पर ही अपनी कार्य-सिद्धि होगी। क्योकि आत्मानन्द से परिपुष्ट प्रभु चरण ही मनोवाञ्च्छित पूण करने के लिये मानो साक्षात् कल्पवृक्ष है। उनकी कृपा होने पर बडी सुगमता से अवशेष मोहनीय कर्म का क्षय भी हो जायगा और अपना सम्पूर्ण-कैवल्य-दशा का कार्य भी बन जायगा।

श्री सुविधि जिन स्तवन

(राग केदारो—इम धन्नो धण नै परचावै—ए देशी)

सुविधि जिनेसर पाय नमीनै, शुभ करणी इम कीजै रे।
अति घण उलट अंग धरीनें, प्रह ऊठी पूजीजै रे॥ सु० ॥१॥

द्रव्य भाव सुचि भाव धरी नै, हरखै देहरे जइये रें।
दह तिग पण अहिगम सांचवतां, एकमनां धुर थइये रें॥ सु० ॥२॥

कुसुम अक्खत वर वास सुगन्धी, धूप दीप मन साखी रे।
अँग पूजा पण भेद सुणी इम, गुरु मुख आगम भाखी रें॥ सु० ॥३॥

एहनूं फल दुइ भेद सुणीजै, अन्तर नै परम्पर रे।
आणा पालन चित्त प्रसत्ति, मुगति सुगति सुर-मन्दिर रें॥ सु० ॥४॥

फल अक्खत वर धूप पइवो, गंध निवेज फल जल भरि रे।
अंग अग्र पूजा मिलिअड विधि, भावे भविक शुभ गति वरि रे॥ सु० ॥५॥

सतर भेद इकबीस प्रकारे, अठोत्तर सत भेदे रे।
भाव पूजा बहु विधि निरधारी, दोहग दुरगत छेदे रे॥ सु० ॥६॥

तुरिय भेद पडिवत्ती पूजा, उपसम खीण सयोगी रे।
चउहा पूजा उत्तराभ्रयणे, भाखी केवल भोगी रे॥ सु० ॥७॥

इम पूजा बहु भेद सुणीनै, सुखदायक सुभ करणी रे।
भविक जीव करसे ते लहसे, 'आनन्दघन' पद धरणी रें॥ सु० ॥८॥

९. श्री सुविधिनाथ स्तवनम्

अनुभव और आगम प्रमाण से मन्दिर और मूर्तिपूजा का रहस्य :

एकदा सन्त आनन्दघनजी के सान्निध्य में जिज्ञासु-मण्डल बैठा था। जिसमें से कितनेक जिज्ञासु मन्दिर और मूर्तिपूजा को उचित समझते थे, जब कि कितनेक अनुचित। प्रसग वश उक्त विषय की ही उस मण्डल में चर्चा छिड़ गई। तब उस मण्डल के एक मध्यस्थ ने सबको शान्त और सावधान करते हुये सभी के समाधान के हेतु विनम्र होकर बाबाजी के साथ इस विषय मे चर्चा करना शुरु किया।

जिज्ञासु—भगवन्। मन्दिर निर्माण और मूर्त्तिपूजा के पीछे क्या उद्देश्य है? कृपया आप आगम और अनुभव प्रमाण से उसके रहस्य पर प्रकाश डालिये।

आनन्दघनजी—मन्दिर एक आध्यात्मिक अभिनय प्रधान प्रयोग-शाला है। जिसका उद्देश्य घट मन्दिर मे रहे हुये आत्मदेव का साक्षात्कार कराना है। उसमे मूर्त्तिपूजा के द्वारा मूर्त्तिमान को पूज्य बनाने वाले चित्त-शुद्धि पूर्वक के अन्तरग अनुभव-क्रम का अभिनय बताया जाता है। क्योकि अभिनय पूर्वक शिक्षा प्रचार जितना ठोस और हृदयगम होता है उतना कोरी व्याख्यान-बाजी से नही हो पाता। अतएव ज्ञानी लोग इन आध्यात्मिक-साधनालयो को परापूर्व से महत्व देते चले आ रहे है, जो कि सर्वथा प्रामाणिक और अनुकरणीय है। अनुभव-प्रमाण से उसका रहस्य इस प्रकार है :—

यह मानव शरीर एक जिनालय के ही समान है। जैसे जिनालय केवल योग का ही साधन है, भोग का नही, वैसे ही मानव शरीर भी केवल योग का साधन है। जैसे मन, वचन और शरीर-रूप तीनो ही योग एव अशुद्ध-उपयोग को जीत कर जिनेश्वर भगवान जिनालय मे पूज्य-पद पर आरूढ है, वैसे ही मानव-देह स्थित आत्मा भी तीनो ही योग एव अशुद्ध-उपयोग को जीत कर पूज्य परमात्म-पद पर आरुढ़ ही

सकता है और उसका यही कर्तव्य है। आत्म-साक्षात्कार के लिए शरीर को आसनस्थ रख कर मन, वाणी और दृष्टि को स्थिर करके चित्त-वृत्ति प्रवाह को बाहर से लौटाकर उसे ज्योहि घट-मन्दिर मे प्रवेशित कराते है त्योहि अन्तरग मे घण्टा, शख, नौबत आदि के रूप मे अनेक प्रकार की दिव्य-अनाहत-ध्वनि सुनाई पड़ती है, जिसके प्रतीक रूप मे मन्दिरो के आद्य-विभाग में घण्टा आदि दिखाये गये है। जैसे भगवान के दर्शन के लिये मन्दिर मे प्रकाश अनिवार्य है, वैसे ही घट-मन्दिर मे भी आत्म-देव के दर्शन के लिये चैतन्य प्रकाश अनिवार्य है, जिसके प्रतीक रूप मे मन्दिरो मे प्रभु-मूर्ति के सामने दीप-पूजा का अभिनय किया जाता है। जैसे सूर्य की किरणे पड़ते ही सूर्य विकाशी कमल खिल उठते है, वैसे ही घट-मन्दिर मे आत्म सूर्य की चैतन्य रोशनी कार्मण-शरीरस्थ सहस्र-दल कमल आदि पर फैलते ही वे खिलने लगते है, जिसके प्रतीक रूप मे प्रभु मूर्ति के सामने पुष्प पूजा का अभिनय किया जाता है। जैसे बाहरी खिले हुये कमलो में से सुगन्ध फैलती है, वैसे ही भीतरीय कमलो के खिलने पर दिव्य सुगन्ध फैलने लगती है, जिसके प्रतीक रूप मे प्रभु मूर्ति के सामने चन्दन आदि गन्ध पूजा का अभिनय किया जाता है। जैसे सूर्य का आतप पहुँचते ही हिमालय के शिखरो पर से बर्फ पिघल कर (१) जल प्रवाह के रूप मे बहने लगती है, वैसे ही आत्म सूर्य का ध्यान आतप पहुँचते ही सहस्र दल कमल की कर्णिका के उपरितन विभाग मे रही हुई बर्फ सदृश मेरु शिखर वत् घट-मेरु शिखरस्थ सिद्ध-शिला की प्रतीक पाण्डु-शिला पिघल कर (२) प्रवाहित होती हुई चैतन्यमूर्ति का अभिषेक करती है, जिस रस को सुधारस कहते है, उसी के प्रतीक रूप मे मन्दिरो मे प्रभु मूर्ति के उपर जल-पूजा द्वारा अभिषेक का अभिनय किया जाता है। वह सुधारस अत्यन्त मधुर होता है अतः अभिषेक जल मे क्वचित् मिसरी आदि पञ्चामृत मिलाने की प्रथा है। जैसे सूखी-गीली लकड़ियाँ जलने पर उनमे से धुँआ

निकलता है, वैसे ही घट में ब्रह्माग्नि के सुलगने पर सूखे गीले कर्म छिलके सर्वांग प्रज्ज्वलित होकर उसमे से निरन्तर धुँआ निकलता हुआ चैतन्य प्रकाश मे नजर आता है, जिसके प्रतीक रूप मे प्रभु-मूर्ति के सामने धूप-पूजा का अभिनय किया जाता है। जैसे छिलके उतर जाने पर अक्षत-चावल फिर से बोने पर भी नही उगते, वे ज्यो के त्यो अक्षत ही बने रहते है, जैसे ही कर्म-छिलके जलकर झड़ जाने पर चैतन्य-मूर्ति आत्मा जन्म-मरण रहित ज्यो की त्यो अक्षत ही बनी रहती है—इस अक्षत स्वभाव का भान कराने के लिए उसके प्रतीक रूप मे प्रभु-मूर्ति के सामने अक्षत-पूजा का अभिनय किया जाता है। जैसे मन्दिर मे नैवेद्य समर्पण करने पर भी प्रभु-मूर्ति उसे नही खाती, वैसे ही घट-मदिर मे नैवेद्य-खाद्य सामग्री समर्पण करने पर भी चैतन्य-मूर्ति आत्मा उसे नही खाती-पीती, क्योकि आत्मा अनाहारी है, इसकी खुराक जड नही हो सकता—इस अनाहारी स्वभाव का भान कराने के लिये इसके प्रतीक-रुप मे प्रभु-मूर्ति के सामने नैवेद्य-पूजा का अभिनय किया जाता है। जैसे मन्दिरो मे फल चढाने पर भी प्रभु-मूर्ति की उनमे आत्म-बुद्धि नही है, वैसे ही घट मन्दिर मे कर्म-फल रूप शाता-अशाता के उदय आने पर भी आत्म-देव को उनमे आत्म-बुद्धि न रखकर सदैव हर्ष-शोक रहित समरस रहना चाहिए। इस कर्म-फल त्याग के प्रतीक रूप में प्रभु-मूर्ति के आगे फल-पूजा का अभिनय किया जाता है।

इस तरह अन्तर्मुख उपयोग द्वारा स्वरूप-लक्ष को साधते हुए उपरोक्त आठो ही प्रकार की पूजन-विधि के सतत अभ्यास से देहाध्यास छूटकर आत्म-साक्षात्कार होता है, और आत्म-साक्षात्कार होने पर क्रमशः भव-दुख रूप आर्ति उतरने लगती है।

जैसे दोनो रोशनदान, खिड़की, दरवाजा और चारदिवारी—इन पाँचो ही आवरणो से उत्पन्न कैदी की आर्त्ति-आकुलता क्रमशः आवरणो

के हट जाने पर मिट जाती है, वैसे ही मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानावरण—इन पाँचो ही आवरणों से उत्पन्न घट-मन्दिर के कैदी आत्म-देव की आर्त्ति क्रमशः पाॅचो ही आवरणो के हट जाने पर उतर जाती है—मिट जाती है , जिसके प्रतीक रूप मे प्रभु-मूर्ति के सामने निरावरण पञ्चज्ञानज्योति सूचक पाॅच दिया जलाकर आरती उतारने का अभिनय किया जाता है। जैसे रोशनदान आदि पाँच आवरण सापेक्ष सूर्य के प्रकाश-भेद, सूर्य की निरावरण दशा मे न रह कर केवल अभेद ज्योति ही जगमगाने लगती है, वैसे ही मतिज्ञानावरण आदि पाॅच आवरण सापेक्ष आत्मा के ज्ञान-प्रकाश-भेद आत्मा की निरावरण दशा मे न रहकर, केवल अभेद आत्म-ज्योति जगमगाने लगती है जिसे सम्पूर्ण केवलज्ञान कहते है। जो म-अहम्-मम को गलाने वाला मगल स्वरूप होने के कारण उसके प्रतीक रूप मे प्रभु-मूर्ति के सामने मगल-दीपक का अभिनय किया जाता है।

जैसे लट्टू स्थित बिजली की आकृति लट्टू के ही आकार मे परिणत होती है, वैसे ही मानवदेह-रूप लट्टू स्थित निरावरण सहज़ात्म-स्वरूप केवल चैतन्यमूर्ति की आकृति भी केवल मानव शरीराकार मात्र परिणत होती है, पर शरीर के उपर के वस्त्र आभूषण और शस्त्र आदि के आकार मे वह परिणत नही होती। इसीलिए जिनालयो मे जिनेश्वर-दशा प्रधान केवल चैतन्य-मूर्ति के ही प्रतीक-रूप मे वस्त्रालङ्कार और शस्त्र आदि से रहित मात्र अनुभव-परिमाण पुरुषाकार प्रभु-मूर्ति ही अभीष्ट है, अतः उस दशा मे ही उसमे पूज्य-बुद्धि प्रतिष्ठित करके उपरोक्त पूजन-क्रम का अभिनय किया जाता है। जिन्हे अकृत्रिम ज्ञान नेत्र और परिपूर्ण-आत्मसुख प्रकट हो चुके है, उन्हे कृत्रिम बाह्यनेत्र और कौपीन, कॅदौरा आदि लगाना तो केवल जिनेश्वर दशा का उपहास करना मात्र है। जिनालयो मे प्रतिष्ठित केवल चैतन्य अनुभव-परिमाण पुरुषाकार जिनप्रतिमावत् घट मन्दिर में प्रतिष्ठित केवल चैतन्य-अनुभव-परिमित पुरुषाकार निज-प्रतिमा का सर्वाङ्ग

दर्शन, पूजन और ध्यान करने पर क्रमशः सर्वांग कर्म-निर्जरा होकर सर्वांग आत्मशुद्धि और आत्मसिद्धि होती है। अतः इस कार्य मे जिन प्रतिमा और उसका दर्शन-पूजन पुष्ट निमित्त कारण है। आत्मशुद्धि-काय सम्पन्न होने के पूर्व ही इस निमित्त-कारण को खण्डित करने पर उपादान मे उपादान-कारणता ही नही आती और उपादान कारण के बिना कार्य-सिद्धि कैसे होगी ? वास्तव मे यह जिन-दर्शन-पूजन तो निज-दर्शन-पूजन ही है, क्योकि इसके अवलम्बन से निज आत्मा हो जिन आत्मा-परमात्मा बन जाता है अत साधकीय जीवन मे उसका आदर होना नितान्त आवश्यक है। इतने पर भी मूढतावश यदि कोई उसका उपहास करे तो उपहासक की निजी आत्म-शुद्धि का ही वह उपहास हो कर निज का अकल्याण होता है—जो भयकर भूल है। इस भूल को सुधार कर आत्म-कल्याण के उपायो मे लगा रहना ही मानव जीवन का कर्त्तव्य है।

अपने आत्म-कल्याण के उपायो मे से यद्यपि सामायिक आदि छह आवश्यक कर्तव्य मुख्य है, पर चित्त शुद्धि के बिना केवल वाणी और शरीर से एक भी आवश्यक नही सधता। जबकि चित्त-शुद्धि तो स्वरूप-नैष्ठिक आत्मानुभवी सद्गुरू से जिन-दशा का स्वरुप समझ कर सद्-गुरू-आज्ञानुसार उसकी उपासना किये बिना हो नही सकती। और-जिनदशा की उपासना तो जब तक मन स्थिर न हो जाय तब तक जिनमुद्रा के दर्शन, पूजन स्मरण आदि के बिना अन्य प्रकार से शक्य नही। तब भला ! जब तक आत्म-साक्षात्कार नही हुआ तब तक यह शुभ क्रिया क्यो उत्थापी जा रही है ? इसका उत्थापन करना तो मानो अनन्तानुबन्धी कषाय को उत्तेजन देकर अनन्त ससार ही बढाना है और कुछ नही।

जैसे वर्षाकाल मे जल-कीच आदि को खूंदते हुए षट्काय जीवो की विराधना होने पर भी मुनि-वन्दन के लिए जाने-आने और वन्दन

क्रिया करने मे श्रावको को तथा आहार, निहार और विहार आदि के हेतु साधुओ की सावद्य-क्रिया जन्य पाप अपरिहार्य माना गया है क्योकि पारिणामिक शुद्धि की हेतु होने से वैसी क्रियाओ की जिनाज्ञा है, वैसे ही जिनालयो मे प्रभु दर्शन-पूजन आदि मे सावद्य-क्रिया जन्य पाप अपरिहार्य है, क्योकि पारिणामिक शुद्धि के लिए इन क्रियाओ की भी जिनागमो मे जिनाज्ञा है। अतः हे भव्यो ! जिनाज्ञा को ठुकरा कर उपरोक्त शुभ-करनी से मुह मत मोड़ो, प्रत्युत शरीर, ससार और भोग रूप अशुभ-करनी से वचने के लिए जब तक स्वरूप-स्थिरता न हो जाय तब तक नित्य नियमित-रूप से शुभ-करनी करो।

जिज्ञासु—हमारे प्रश्न के समाधान-रूप मे आपने जो भी फरमाया, वह अक्षरशः बुद्धि मे उतरकर आत्मा मे स्पर्श करता है अत यथार्थ है। हमें इस विपय मे ऐसा अनुभवपूर्ण हृदयगम समाधान कही से भी नही मिला था अतः अब तक भ्रम मे ही थे, जिस भ्रम को आज आपश्री के टकशाली प्रवचन नें जड़ से ही मिटा दिया। हे कारूण्यमूर्ते! आपके इस उपकार को हम कभी भी नही भुला सकेगे। हे सद्गुरो ! आज से हम सभी को आपका ही शरण हो। अब कृपा करके शुभ-करणीमूलक प्रभु-पूजन के विधि-विधान पर थोड़ा सा प्रकाश डालिये, क्योकि उससे हम अनभिज्ञ है।

१. सन्त आनन्दघनजी—हे सुबुद्धि ! प्रातः काल द्रव्य निद्रा से जगते ही भाव निद्रा से मुक्त होने के लिए इस नीचे बताई जाने वाली सम्यक्-विधि से आत्म-वैभव द्वारा अपनी शोभा बढाने वाली शोभन क्रिया करनी चाहिए।

प्रथम अपने हृदय कमल को सुलटा कर उस पर रागादि शत्रुओ को जीतनेवाले सम्पूर्ण आत्मैश्वर्य युक्त सम्यक् विधि प्रदर्शक श्री सुविधि जिनेश्वर भगवान की चैतन्यमूर्ति को स्थापन करके शरीर मे सातो ही धातुओ के भेदन पूर्वक अत्यधिक उल्लासभाव को धारण करते हुए

जिन चरणों मे नमस्कार करके अपनी आत्मा को पूज्यता प्रदान करने वाली जिनेश्वरों की पूजा-अर्चा का उद्यम करना चाहिए।

२/६. शौच आदि बाधाओ से निवृत होकर अचित्त निर्मल जल से स्नान करके अखण्ड शुद्ध धोती और एकवड़ा उत्तरीय वस्त्र (१) परिधान पूर्वक द्रव्य शुद्धि एव आर्त्त-रौद्र परिणति का परित्याग तथा धम-ध्यान परिणति के परिग्रहण पूर्वक भावशुद्धि से अचित (२) शुद्ध सात्विक पूजन सामग्री लेकर अत्यन्त हर्षित आत्म-भाव से जिनमन्दिर जाना चाहिए।

राजा, आमात्य और नगर श्रेष्ठि प्रमुख सत्ता और वैभव सम्पन्न व्यक्तियो को धार्मिक प्रभावना के हेतु महोत्सव पूर्वक तथा सामान्य जनता को अपने उचित ढग से जिनालय जाते हुए जिनमन्दिर को देखते ही वाहन से उतर कर एकाग्रचित्त (३) से अर्द्धविनत प्रणाम (४) करके सकल गृह-व्यवहार के परित्याग सूचक 'निसीही' शब्दोच्चारण पूर्वक जिनालय के सीमाद्वार मे प्रवेश करना चाहिए। तदनन्तर छत्र, चामर, मुकुट, खड़ग, पादुका आदि राजचिन्ह और स्व-शरीरपभोग्य पुष्पमाला आदि सचित्त-वस्तुओं (५) का परित्याग करना चाहिए। इस तरह पाँच प्रकार से वीतराग दशा का अभिगम-आदर करना मुमुक्षु के लिए नितात आवश्यक है।

जिनालय के परिक्रमा-विभाग मे पहुँचने पर जिन-बिम्ब के चारो ओर तीन-तीन आवर्त्त युक्त अर्द्धविनत-नमस्कार करते हुए त्रिधा प्रणाम प्रर्वक रत्नत्रय-प्रवृत्ति की उपादेयता सूचक प्रदक्षिणा-त्रिक (१) दक्षिणावर्त्त से करके मन्दिर-व्यवस्था और स्वधर्मी-शिष्टाचार के भी त्याग सूचक पुनः 'निसीहि' शब्दोच्चारण करते हुये जिनालय-प्रवेश करना चाहिये। और प्रभु सन्मुख माँगलिक स्तुति-स्तोत्र पढ कर पदभूमि के त्रिधा प्रमाजन (२) पूर्वक त्रिधा पश्चागी प्रणिपात (३) करना चाहिये। तदनन्तर पञ्चोपचार अष्टोपचार किंवा सर्वो-पचार से द्रव्य-पूजन करना चाहिये।

द्रव्य से पूजात्रिक—

पचोवयार जुत्ता, पूया अट्ठोवयार कलिया य।
इड्ढिविसेसेण पुणो, भणिया सव्वोवयारा वि॥ २०९॥
तहिय पचुवयारा-कुसुम-उक्खय-गव-धूप-दीवेहि।
फल-जल-नेवज्जेहिं, सह ऽठ्ठरूवा भवे सा उ॥ २१०॥
सव्वोवयार जुत्ता, ण्हाण-ऽच्चण-नट्ट-गीयमाईहिं।
पव्वाइएसु कीरइ, निच्च वा इड्ढिमतेहि॥ २१२॥

—शान्तिसूरि विरचित चैत्यवन्दन महाभाप्ये।

द्रव्य से पूजात्रिक का आगम-कथित रहस्य हमने श्री सद्गुरु मुख से निम्न प्रकार सुना है :—

अंग पूजा—जिसने पूजन किये बिना भोजन-त्याग की प्रतिज्ञा अगीकृत कर ली है और सफर मे जिनालय का अभाव है तो उसके लिये अपने नियम के प्रतिपालन के हेतु ऐसी विधि है कि वह स्वय अपने अग अर्थात् हाथो ही शुद्ध मिट्टी आदि की तात्कालिकी जिन-प्रतिमा बनावे और पुष्प, अक्षत, सुगन्धित वासचूर्ण, धूप और दीपक—इन पॉच प्रकार के उत्तम द्रव्यो से पञ्चोपचारी ही जिन-पूजन करे क्योंकि मृन्मय मूर्त्ति के उपर जलाभिषेक आदि नही हो सकता। पूजन के बाद विसर्जन विधि से वह बिम्ब जलाशय मे विसर्जन कर दे।

अग्रपूजा—अग्र प्रथमत प्रतिष्ठित धातु, रत्न, काष्ठ किवा पाषाण आदि की जिन प्रतिमा की पूजन विधि तो पुष्प, अक्षत, धूप, दीपक, चन्दन आदि गन्ध नैवेद्य फल और जल—ये सब मिलाकर आठ प्रकार के उत्तम द्रव्यो से ही करनी चाहिए।

सर्वोपचार पूजा—जन साधारण के लिये पर्व-दिवसो मे और ऋद्धिमानो के लिये नित्य अष्ट द्रव्यो के उपरान्त नृत्य, सगीत आदि के विस्तार पूर्वक जिनपूजन करना चाहिये। इस पूजा के १७, २१, १०८ आदि अनेक प्रकार हैं।

वास्तव मे यह सर्वोपचार पूजा प्रथमतः प्रतिष्ठित जिनप्रतिमा की ही होती है अतः इसका यहाँ अग्रपूजा में ही समावेश है।

द्रव्य पूजा के प्रारम्भ में सर्व प्रथम एकाग्रचित्त से जिनप्रतिमा को स्थापना-मेरु के पाण्डुशिला-स्थित सिंहासन ऊपर अतीव आदर पूर्वक विराजमान करना चाहिये। फिर अपने हृदय कमल पर चैतन्य भाव का कुम्भक करके वहाँ से अपनी ज्ञायक-सत्ता का रेचक पवन द्वारा ब्रह्म-रध्र से आह्वाननी-मुद्रा पूर्वक जिन प्रतिमा मे आह्वान करके और फिर क्रमश स्थापनी तथ सन्निधापनी मुद्रा द्वारा उसका वही स्थापन और सन्निधिकरन करना चाहिये। फिर प्रभु-मूर्ति मे भगवान की च्यवन और जन्म कालीन क्षायिक-सम्यक्त्व-प्रधान ज्ञानदशा का उद्भावन करके अपनी दर्शन-विशुद्धि के हेतु स्वरूपानुसन्धान पूर्वक शक्रेन्द्र वत् द्रव्य-पूजन-क्रम निम्न बातों को ध्यान में रख कर ही शुरु करना चाहिये।

पूजन के समय अपनी दृष्टि प्रभु में इतनी तल्लीन हो जानी चाहिये कि जिससे अपनी उपर, नीचे और तीरछे (त्रिदिशि निरीक्षण विरति) (१) किंवा दायी, बायी और पीछे की ओर कौन है उसका अपने पता ही न चले, (२) और वैसी ही मानसिक, वाचिक एवं कायिक एकाग्रता (प्रणिधान त्रिक ५) बनी रहे। तथा पूजन पाठ पढते हुये यथास्थान योग, जिन, और मुक्ताशुक्ति—इस मुद्रात्रिक (६) पूर्वक शब्द और अर्थ द्वारा जिनदशा का अवलम्बन (वर्णत्रिक ७) जरा-सा भी न छूटे।

अग-अग्र-रूप द्रव्य पूजा की परिसमाप्ति होने पर जन्म-कल्याणक प्रत्ययी सर्वोपचार पूजा विधि से जो प्रभु को मुकुट, कुण्डल, आदि अलकारों से अलकृत किया गया था, वे सभी के सभी अलकार आदि दूर करके द्रव्य पूजा के त्याग सूचक तृतीय 'निसीहि' (८) शब्दोच्चार करके प्रभु मूर्ति मे तपस्वी छद्मस्थ मुनिदशा, कैवल्य दशा और सिद्ध दशा

रूप अवस्था त्रिक (९) का उद्भावन करके भाव-पूजन में प्रवेश करके (१०) पूजा त्रिक की पूर्ति करनी चाहिये। इस तरह यह दसत्रिक* का समाचरण समाचरणीय है।

* तिन्नि निसीही तिन्नि य, पयाहिणा तिन्नि चेव य पणामा।
तिविहा पूआ य तहा, अवत्थतिय भावण चेव॥ १८०॥
ति दिसि निरक्खण विरई, पयभूमि पमज्जणं च तिक्खुत्तो।
बन्नाइ तिय मुद्दातिय च, तिविहं च पणिहाण॥ १८१॥
—श्री शान्ति सूरि विरचित चैत्यवन्दन महाभाष्ये।

भाव पूजा के अवसर मे भी प्रभु पर अलकार आदि स्थायी बनाये रखने का आग्रह देव मूलक मताग्रह है—सत्याग्रह नही, अत. मुमुक्षु के लिए वह हेय है।

इस द्रव्य पूजा का फल दो प्रकार का श्री गुरुमुख से हमे सुनने मे आया है—एक अनन्तरफल और दूसरा परंपर-फल। जिसे सौभाग्यवश सद्गुरु आज्ञा हाथ चढ गई, उसे तो मानो सब कुछ सिद्ध हो चुका। क्योकि "आणाए तवो, आणाए संयमो" —ऐसा आज्ञा माहात्म्य जिनवाणी मे जगह-जगह बताया गया है। और यह बात है भी सही, क्योकि सच्चाई पूर्वक आज्ञाधीन साधना से चित्त-शुद्धि होकर ही रहती है। अतः प्रभु भक्ति द्वारा आज्ञा के निरन्तर प्रति-पालन से चित्त शुद्धि का निरन्तर होते रहना यह अनन्तरफल है, और क्रमशः परिपूर्ण चित्त शुद्धि होने पर सिद्धगति अथवा अपूर्ण चित्तशुद्धि होने पर उत्तम देव गति की प्राप्ति-परम्पर फल है। अतः हे भव्यो! श्रम छोड़ कर विशुद्ध भाव से निरन्तर जिन पूजन करके उत्तम गति को प्राप्त करो। अधिक क्या कहूँ? अब तीसरी भाव पूजा का रहस्य सुनिये :—

भाव पूजा—नय, प्रमाण, निक्षेप आदि द्वारा षट्-द्रव्य, नवतत्व आदि अनेक प्रकार की सुविचार श्रेणियो से स्व-समय और पर-समय

का परीक्षण करके हेय, ज्ञेय और उपादेय के विवेक पूवक पर द्रव्य पर-भाव और उनके निमित्त से उत्पन्न होने वाले अपने सभी विभावो से मुँह मोड़ कर निज अनुभव परिमाण स्वभाव में स्थिति करना— यही भाव पूजा है, और स्वभाव स्थिति तो तभी सम्भव है जब कि द्रव्य पूजा प्रभृति प्रभु भक्ति द्वारा भाव-विशुद्धि करके चित्तशुद्धि की जाय। ज्यो-ज्यो द्रव्य-पूजा मे तन्मयता होती है त्यो-त्यो भाव-विशुद्धि होती है, और ज्यो-ज्यों भाव-विशुद्धि सघती है त्यो-त्यो चित्त-शुद्धि अर्थात् ज्ञान की निर्मलता सघती है। अतः भाव-पूजा मे द्रव्य-पूजा पुष्ट निमित्त कारण ही है। प्रभु के साकार स्वरूप को लक्ष्य बनाकर सहजात्म-स्वरूप की स्मृति दिलाने वालो मन्त्र-स्मरणधारा को अखण्ड वनाये रखना—यह तो द्रव्य पूजा की पीठिका मात्र है। और उस लक्ष्य के लक्ष के लिए जिनमुद्रा अनिवार्य है क्योकि जैसे स्व-स्वरूप को समझने के लिये जिनवाणी अनन्य निमित्तकारण है, वैसे ही स्वरूप प्राप्ति के लिये जिनमुद्रा अनन्य निमित्त कारण है। जैसे जिनवाणी साक्षात् नही, स्थापना मात्र है फिर भी वह स्वस्वरूप समझने मे उपकारी हो सकती है; वैसे ही जिनमुद्रा साक्षात् नही, स्थापना मात्र हो, तो भी वह स्वस्वरूप-प्राप्ति में उपकारी ही हो सकती है। अतः भाव-पूजा के लिये द्रव्य पूजा नितान्त आवश्यक है। क्योकि द्रव्यपूजा द्वारा भावपूजा सघने पर स्वस्वरूप की अप्राप्ति-रूप दुर्भाग्य से उत्पन्न जन्म-मरण-परम्परा मूलक चारो ही गतियो का परिभ्रमण मिट जाता है।

पूजन की परिसमाप्ति के अवसर मे क्रमशः अस्त्र और विसर्जनी मुद्रा पूर्वक प्रभु-प्रतिमा में स्थापित स्व-ज्ञायक-सत्ता उत्थापन करके उसे ब्रह्मरध्र मार्ग से पूरक पवन द्वारा अपने हृदय कमल मे पुनः स्थापन कर देना चाहिये, और जिन बिम्ब भी वेदी पर सविधि स्थापन कर देना चाहिये।

७. पूजन का चौथा भेद प्रतिपत्ति-पूजा है, जिसका रहस्य निम्न प्रकार है :—

प्रत्तिपत्तिपूजा—भाव पूजा से ज्यों-ज्यों स्वभाव-स्थिति सधती जाती है, त्यो-त्यो स्वस्वरूप की स्वतन्त्रता मे बाधक घाती-कर्म-मल का उपशमन किवा क्षय एव अघाती कर्मो की परिक्षीणता तथा अभाव होता जाता है, और तदनुसार स्वस्वरूप की प्रतिपत्ति अर्थात् प्राप्ति भी होती जाती है—जिसे प्रतिपत्ति पूजा कहते हैं। इसके तीन भेद है :—

१. घातीकर्ममल के सर्वथा उपशमन से होने वाली स्वस्वरूप प्राप्ति कि जो उपशम श्रेणि-आरूढ को ग्यारहवें गुणस्थान मे होती है।

२. घातीकर्ममल के सर्वथा क्षय से होने वाली स्वस्वरूप-प्राप्ति कि जो क्षपक श्रेणि-आरूढ को बारहवे गुणस्थान में होती है।

३. अवशेष केवल अघाती-कर्मो से टिके हुए द्रव्य-मन, वचन और काययोगों की अवस्थिति में अनुभव मे आनेवाली स्वस्वरूप प्राप्ति कि जो सम्पूण कैवल्यदशा प्रधान तेरहवे गुणस्थान मे होती है।

इस प्रकार यह समस्त पूजा-विधान-रहस्य श्री केवलज्ञानियो ने बताया था, जिसे श्री गणधरो ने उत्तराध्ययन-सूत्र मे सकलित किया था पर काल-दोष से विसर्जन हो गया।

८. इस तरह पूजा के बहुत-से भेद और रहस्य को गुरुगम पूर्वक सुनकर जो भव्य जीव यह सुखदायक शुभक्रिया-रूप प्रभुपूजन करेगा, वह परिपूर्ण पुष्ट आत्मानन्द युक्त पूज्य परमात्म-पद पर आरूढ होकर जन्म-मरण से मुक्त सिद्ध लोक मे स्थिर हो जाएगा।

श्री शीतल जिन स्तवन

(राग—धन्याश्री गौडी-गुणह विसाला मंगलिकमाला—ए देशी)

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी, विविध भंगि मन मोहे रे।
करुणा कोमलता तीक्षणता, उदासीनता सोहे रे।। शी० ।।१।।

सर्व जीव हित करणी करुणा, कर्म विदारण तीक्षण रे।
हानादान रहित परणामी, उदासीनता वीक्षण रे।। शी० ।।२।।

परदुख छेदन इच्छा करुणा, तीक्षण पर दुख रीझे रे।
उदासीनता उभय विलक्षण, एक ठामि किम सीझे रे।। शी० ।।३।।

अभय दान ते मलक्षय करुणा, तीक्षणता गुण भावे रे।
प्रेरण विण कृत उदासीनता, इम विरोध मति नावें रे।। शी० ।।४।।

शक्ति व्यक्ती त्रिभुवन प्रभुता, निर्ग्रंथता सयोगे रे।
योगी भोगी वक्ता मौनी, अनुपयोगि उपयोगे रे।। शी० ।।५।।

इत्यादिक बहुभंग त्रिभंगी, चमत्कार चित देती रे।
अचरज कारी चित्र विचित्रा, 'आनन्दघन' पद लेंती रे। शी० ।।६।।

१०. श्री शीतल जिन-स्तवनम्

अनेकान्तवाद तो समन्वयवाद है—संशयवाद नहीं :

एकदा सन्त आनन्दघनजी की अवधूत आत्मदशा और अथाह विद्वता को सुनकर उनके सत्संग मे विभिन्न सम्प्रदाय के दार्शनिक विद्वान मिल कर आये। उनमे से एक नामाकित विद्वान ने प्रसगोपात दार्शनिक चर्चा छेड़ दी।

पडित—बाबा ! तीर्थङ्करो का अनेकान्तवाद तो एक ही तत्व मे परस्पर विरोधी अनेक धर्मो को बताकर के सशय ही पैदा करा देता है, पर तत्त्व निर्णय नही करा पाता, अतः उसे सशयवाद कहना क्या अन्याय है ?

सन्त आनन्दघनजी—सुज्ञ महाशय ! अनेकान्तवाद तो केवल समन्वयवाद है—सशयवाद नही पर उसका वास्तविक रहस्य समझे बिना ही उसे संशयवाद कह देना, यह तो अपनी समझ का ही अपराध है।

अनेकान्तवाद का रहस्य इस प्रकार है :—

अमुक विवक्षित वस्तु के प्रति जबकि परस्पर विरोधी धार्मिक दृष्टि भेद देखने मे आते हो, तब उन सभी दृष्टि भेदो का समन्वय करके उनमे से वास्तविक दृष्टि भेदो को उचित स्थान देकर विरोध को मिटा देना ही अनेकान्तवाद किवा स्याद्वाद है। वास्तव मे इसी के माध्यम से सर्वाङ्गीण तत्व निर्णय हो कर धर्म-कलह का शमन होता है, जिसके फलस्वरूप जिज्ञासुओ को मध्यस्थता और समरसता की अनुभूति होती है।

वस्तु के स्वरूप को दिखलाने वाली वाक्य-रचना मूलतः त्रिभगीरूप मे होती है। जैसे कि आप तत्त्व-सामान्य की दृष्टि से नित्य है और तत्त्व की अवस्था विशेप की दृष्टि से अनित्य है, पर तत्त्व-

सामान्य की दृष्टि से अनित्य नही है और अवस्था-विशेष की दृष्टि से नित्य नही है। इसी तरह आप नित्य, अनित्य आदि शब्द द्वारा तत्त-द्रूप मे प्रतिपाद्य होने पर भी समग्र-रूप मे किसी एक ही शब्द द्वारा कहे नही जा सकते अतः अवक्तव्य है। फलतः आप (१) कथचित है, (२) कथचित नही है और (३) कथचित अवक्तव्य है—यह सशय नही प्रत्युत निश्चित बात है।

विरोधी वादो की समीकरण-भावना ही इस त्रिभगी की प्रेरक है और वस्तु के स्वरूप का सर्वांगी परीक्षण करके यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना—यही इस त्रिभगी का साध्य है।

बुद्धि मे प्रतिभासित वस्तु के किसी भी धर्म के प्रति मूलतः (१) स्यादस्ति (२) स्यान्नास्ति और (३) स्यादवक्तव्य—इन तीनो विकल्पो का ही सम्भव है और चाहे जितने शाब्दिक परिवर्तन से उनकी सख्या बढाने का प्रयत्न किया जाय तो भी इन तीन भंगो की पारस्परिक सयोजना से उत्पन्न (४) स्यादस्तिनास्ति (५) स्यादस्ति अवक्तव्य (६) स्यान्नास्ति-अवक्तव्य और (७) स्यादस्तिनास्ति युग पद-वक्तव्य—इन चार भगो को मिलाकर कुल सप्तभग ही हो सकते है, अधिक नही, अतः इसी का दूसरा नाम सप्तभगी भी है। तीर्थङ्करो का यह त्रिभगी किंवा सप्तभगी स्याद्वाद-न्याय अनुपम-सत्य है, फिर भी अपनी समझ के अपराध वश उसे सशयवाद कह देना—यह तो सत्य पर ही अन्याय करना है।

१. पण्डित—ओहो ? आत्मा को वस्तु-स्थिति का सत्य-समाधान देकर वास्तविक शीतलता-शान्ति प्रदान करने वाला शीतल-जिननाथ का यह विविध भंग युक्त त्रिभगी-न्याय अत्यन्त सुन्दर है, यह तो हमारे मन को भी मोह लेता है। इसकी खरी-खूबी का तो हमे भान ही नही था, अतः इस ओर हमारी कटाक्ष बुद्धि रही। भगवन्! हमारे इस अपराध की हम सच्चाई से क्षमा चाहते हैं। वास्तव मे तीर्थङ्करो

ने इस अनुपम न्याय का ़तिपादन करके जनता का बड़ा उपकार किया है। उनकी इस निष्कारण करुणा को हम हृदय से अभिनन्दन देते है।

अब हम इस वीतरागी-त्रिभगी न्याय को इसके जन्मदाता वीतरागो पर ही घटा कर समझना चाहते हैं—जैसे कि सारे विश्व मे त्राहि-त्राहि मच रही है, जिसे भगवान देखते भी हैं, और जानते भी हैं, जबकि वे योगीश अत्यन्त दयालु है और उनमे ऐसी अद्भुत शक्ति भी है कि यदि वे चाहे तो विश्व के चराचर प्राणी-मात्र का दुःख मिटा सकते है क्योकि उनकी वैसी त्रिभुवन-प्रभुता मशहूर है, फिर भी वे मौन क्यो? इस वाक्य के अनुसार वीतराग भगवान मे करुणा अर्थात् कोमलता (१) कथचित है (२) कथचित नही है अर्थात् कठोरता है, और फिर भी वे कोमल है या कठोर—ऐसा भी नही कहा जा सकता क्योकि वीतराग तो उदासीनता से ही अलकृत है अतः वे (३) अवक्तव्य है।

३. यहाँ—दूसरो के दुखो को मिटाने की इच्छा-रूप करुणा, दूसरो को दुख देकर खुशी मनाने-रूप क्रूरता और इन दोनो लक्षणो से रहित विलक्षण उदासीनता—इन तीनो ही धर्मो का परस्पर अत्यन्त विरोध है, फिर भी वे एक ही स्थान में अविरोध-रुप से कैसे सिद्ध हो सकते है? कृपया इनका परस्पर समन्वय करके दिखाइये।

२. सन्त आनन्दघनजी—वीतराग भगवान में करुणा (१) कथंचित है और (२) कथचित नही भी है, क्योंकि विश्व के चराचर समस्त प्राणियो के हित के लिये उन पर तो वह है, किन्तु राग, द्वेष और अज्ञान आदि कुकर्मों पर वह नही है। कुकर्मो को आत्मा से अलग करने के लिये तो भगवान मे अत्यन्त क्रूरता ही है। इतने पर भी भगवान की पर-प्राणी-मात्र के प्रति न तो इष्ट बुद्धि है और न पर-जड़ कर्मों के प्रति अनिष्ट बुद्धि है, क्योकि उन्हें पर चेतन-सृष्टि को

कुछ देना नहीं है और जड़-सृष्टि से कुछ लेना नही है। इसीलिए उनके परिणामो में त्याग ग्रहण रहित केवल उदासीनता ही चमक रही है। इस दृष्टि से भगवान मे करूणा है या नही है ? जिसे समग्र रूप मे एक शब्द द्वारा नही कहा जा सकता अतः वह (३) कथचित अवक्तव्य है।

४. भगवान मे उपर्युक्त करूणा और क्रूरता ये दोनो ही केवल स्वाभाविक गुण है, दोष नही। क्योकि उनकी करूणा के फल-स्वरूप स्व-पर को अभयदान मिलता है और क्रूरता के फल-स्वरूप स्व-पर के आत्मैश्वर्य मे बाधक घाती-कर्म-मल दूर हो जाता है। ऐसा होने पर भी इन दोनो क्रियाओ मे कतृत्व-बुद्धि पूर्वक प्रेरणा न होने से भगवान की उदासीनता अभग ही बनी रहती है। इस प्रकार गहराई से देखने पर वीतराग भगवान मे करूणा, क्रूरता और उदासीनता तीनो ही धर्म एक साथ रहने पर भी प्रत्येक धर्म का किसी दूसरे के साथ विरोध सिद्ध नही होता—ऐसा आप अपने मन में निश्चित-रूप से समझिये।

५ इसी तरह आपने भगवान के जितने विशेषण कहे, वे सभी उनकी सयोगी कैवल्य-दशा मे घटित होते है, और उन सभी पर यह त्रिभगी-न्याय भी घटित हो सकता है। जैसे कि :—

(१) ज्ञानावरण और दर्शनावरण से सर्वथा मुक्त, सम्पूर्ण, शुद्ध और अखण्ड ज्ञान-दर्शन भगवान मे प्रकट है, अत उत्पाद, व्यय और ध्रूवता रूप त्रिविध त्रिकालिक वर्तना युक्त विश्व के समस्त पदार्थो को वे प्रति समय साक्षात् देख-जान सकते है, पर उस प्रकार देखने-जानने मे उनकी सर्वज्ञता के कारण कथचित् उपयोग है और कैवल्यता-आत्मज्ञता के कारण कथचित् उपयोग नही है। इतने पर भी चेतना तरग के प्रयोग-कर्त्तृत्व से सर्वथा उदासीन होने के कारण वे उस प्रकार उपयोगी है या अनुपयोगी ? जिसे समग्र-रूप मे एक शब्द द्वारा व्यक्त नही किया जा सकता, अतः वे कथचित-अवक्तव्य हैं।

(२) अपने शुभाशुभ-उपयोग-रूप चित्तवृत्ति प्रवार को सर्वथा मिटा देने के कारण भगवान कथचित् महान योगी है, और कथचित योगी नही, प्रत्युत महान भोगी है क्योकि सम्पूर्ण स्वाधीन आत्मानन्द को निरन्तर भोगते ही रहते है। इतने पर भी मन-वचन-काय-रूप त्रियोग और भौतिक भोग विलास से अत्यन्त उदासीन होने के कारण वे योगी है या भोगी ? जिसे समग्र-रूप मे एक शब्द द्वारा व्यक्त नही किया जा सकता अतः वे कथचित् अवक्तव्य हे।

(३) स्वय जन्म मरण आदि समस्त दुखो से परिमुक्त होने के कारण भगवान मे विश्व भर के चराचर प्राणी मात्र के दुख मिटाने की शक्ति कथचित है, और कथचित नही भी है, क्योकि सामर्थ्य की अव्यक्त दशा को शक्ति कहते हे जबकि उनमे सामर्थ्य की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति हो चुकी है। फिर भी वे कर्तत्व-अभिमान-शून्य सर्वथा उदासीन होने के कारण उनमे वैसी शक्ति-व्यक्ति है या नही ? जिसे समग्र रूप मे एक ही शब्द द्वारा व्यक्त नही किया जा सकता अतः वह कथचित् अवक्तव्य है।

(४) भगवान के चरणो मे सत्ता और वैभव सम्पन्न देव-देवेन्द्र और नर-नरेन्द्र आदि सभी नतमस्तक रहते है, क्योकि उन्होने विश्व में सार के सार-भूत समस्त आत्म-वैभव को पा लिया है—अतः इस दृष्टि से भगवान मे त्रिभुवन-प्रभुता कथचित है, और कथचित् नही भी है क्योकि वे समस्त बाह्य भौतिक-वैभव एव राग आदि समस्त आन्तरिक-विभाव-वैभव से सर्वथा विमुक्त निर्ग्रन्थ है, इतने पर भी उनमे त्रिभुवन-प्रभुता किंवा निर्ग्रन्थता है या नही है ? यह भी समग्र-रूप मे एक शब्द द्वारा व्यक्त नही किया जा सकता, क्योकि वे विश्व की प्रभुताई और निर्ग्रन्थता के चिन्ह से रहित केवल उदासीन हे अतः उनमे वह कथचित-अवक्तव्य है।

(५) भगवान कथचित्-वक्ता है, क्योकि भक्त समूह को बोध-

दान देते है, और कथचित-वक्ता नही—मौनी है, क्योकि वे भाषा-वर्गणा के ग्रहण-त्याग-रूप प्रयोग के कर्त्ता नही है, इतने पर भी बोलने न-बोलने की इच्छा मात्र से मुक्त उदासीन होने से वे वक्ता है या मौनी ? इसे समग्र रूप मे एक ही शब्द द्वारा व्यक्त किया नही जा सकता, अतः वे कथचित् अवक्तव्य है।

इस प्रकार उदासीनता के संयोग से उपयोगी-अनुपयोगी, योगी-भोगी, शक्ति-व्यक्ति, त्रिभुवन प्रभुता-निर्ग्रन्थता और वक्ता-मौनी —ये पाँचो ही त्रिभगियाँ अविरोध-रूप मे सिद्ध हो चुकी।

(६) इसी प्रकार के अन्य और भी परस्पर विरोध दिखलाने वाले द्विसयोगी, त्रिसयोगी आदि अनेक भगो का पारस्परिक विरोध मिटाने वाला चमत्कार दिखा कर यह त्रिभगी-न्याय चित्त को आश्चर्य-चकित और आनन्द-विभोर कर देता है एव सर्वागीण वास्तविक तत्त्व-समाधान के द्वारा सभी कल्पना-चित्रो से विचित्र-निर्विकल्प बनाकर आत्मा को पुष्ट ज्ञानानन्द युक्त सिद्ध-पद प्रदान करके सभी न्यायो मे प्रधान-पद ले लेता है।

श्री श्रेयांस जिन स्तवन

(राग-गौडी—अहो मतवाले सजना—ए देशी)

श्री श्रेयांस जिन अंतरजामी, आतमरामी नामी रे ।
अध्यातम मत पूरण पामी, सहज मुगति गति गामी रें ।। श्री श्रे० ।।१।।

सयल संसारी इन्द्रियरामी, मुनिगण आतमरामी रे ।
मुख्य पणे जे आतमरामी, ते केवल निक्कामी रे ।। श्री श्रे० ।।२।।

नजि सरुप जे किरिया साधे, ते अध्यातम लहिये रे ।
जेकिरिये करि चउ गति साधैं, ते न अध्यातम कहिये रे ।। श्री श्रे० ।।३।।

नाम अध्यातम ठवण अध्यातम, द्रव्य अध्यातम छंडो रे ।
भाव अध्यातम निज गुण साधैं, तो तेह थी रढ मंडो रे ।। श्री श्रे० ।।४।।

शब्द अध्यातम अरथ सुणी नै, निरविकल्प आदरज्यो रे ।
शब्द अध्यातम भजना जाणी, हांन-ग्रहण मति धरज्यो रे ।। श्री श्रे० ।।५।।

अध्यातम जे वस्तु विचारी, बीजा जाण लबासी रे ।
वस्तु गते जे वस्तु प्रकासै, 'आनन्दघन' मत वासी रे ।। श्री श्रे० ।।६।।

११. श्री श्रेयांस-जिन स्तवनम्

आध्यात्म-रहस्य :

एकदा अध्यात्मतत्त्व निष्ठ सन्त आनन्दघनजी के सत्सग मे बहुत से अध्यात्मतत्त्व-प्रचारक आये, और बाबा से आध्यात्मिक-चर्चा द्वारा अपने प्रश्नो को हल करने लगे।

प्रचारक—भगवन्! विश्व मे बहुत से धर्म-मत प्रवर्त्तक हुये और होते चले जा रहे है, उनमे से अध्यात्म-तत्त्व का परिपूर्ण-रूप मे साक्षात्कार करके उसे विशेष व्यक्त करने वाले सर्वश्रेष्ठ प्रवर्तक कौन गिने जा सकते है ?

१. सन्त आनन्दघनजी—वत्स! आध्यात्म-मत-प्रवर्तको मे सर्व श्रेष्ठ तो वे ही गिने जा सकते है कि जिन्होने राग, द्वेष और अज्ञान का सर्वथा जय और क्षय कर दिया हो, अतएव जो सम्पूर्ण कैवल्य-लक्ष्मी पाकर घट-घट की हल-चल प्रत्यक्ष जानते हुये भी आत्म-स्वरूप मे अखण्ड रमणता करने वाले साक्षात् श्रेयोमूर्ति हो। मेरी दृष्टि मे तो वैसे अव्वल नम्बर के नामाकित व्यक्ति श्री जिनेश्वर भगवान ही है। वे साक्षात् श्रेयासनाथ है, क्योकि उनके उपलब्ध सिद्धान्त और शिक्षाबोध मे आध्यात्मिकता की इतनी पराकाष्ठा है कि जो उन्हे परिपूर्ण अन्तर्यामी और आत्मारामी के रुप मे मानने के लिये हमे बाध्य कर देती है। वास्तव मे उन्ही ने अध्यात्म-मार्ग को परिपूर्ण रूप से पाया और उसे उसी-रूप मे व्यक्त करके वे सहज ही मे जन्म-मरण आदि दुखो से सर्वथा मुक्त हो कर सिद्धलोक मे चले गये।

२. प्रचारक—वर्तमान मे इस अध्यात्म-पथ के पथिक सन्तो मे से सर्वश्रेष्ठ सन्त कौन गिने जा सकते है ?

सन्त आनन्दघनजी—सर्वश्रेष्ठ सन्त तो वे ही गिने जा सकते है कि जिनका उपयोग आत्म-दर्शन, आत्मज्ञान और आत्मसमाधि

रूप मुनि-गुणो द्वारा साक्षात् आत्मा मे ही रम रहा हो। जिनका उपयोग आत्मा में नही, प्रत्युत इन्द्रिय विषयो मे ही रम रहा हो और साधु-स्वॉग मात्र की बाह्य-चेष्टा से ही यदि उन्हे मुनि मान लिया जाय, तब तो ऐसे इन्द्रियारामी ससारी सभी प्राणी है और साधु-स्वाँग के बाह्य-अभिनय मे तो नट भी प्रवीण है, पर वैसी कोरी नटबाजी से अध्यात्म-पथ मे प्रवेश तक नही हो पाता। खास तौर से यदि देखा जाय तो आत्म-रमणता ही साधुता का प्राण है। और ऐसे जो सप्राण आत्मारामी सन्त हो, वे तो इन्द्रिय विषयो को देखने जानने की कामना तक से मुक्त केवल निष्कामी ही बने रहते है।

३. प्रचारक—आध्यात्म-सम्मत क्रिया का मुख्य लक्षण क्या है?

सन्त आनन्दघनजी—स्वरूपानुसन्धान को स्थिर करके शुभाशुभ-कल्पना को रोकने वाली रत्नत्रयी-मूलक चेतना की वह अबध सवर-परिणति ही अध्यात्म-क्रिया का मुख्य लक्षण है कि जिस परिणति से अपने आत्म-स्वरूप की अखण्ड रमणता सधती है और परिणाम मे चतुर्गति का प्ररिभ्रमण मिटता है, अतः मुमुक्षु के लिये वही अगीकार करने योग्य है, किन्तु जिस क्रिया के करने पर बन्ध ही बढता हो और परिणाम मे आत्मा को फिर से चतुर्गति मे जन्म धारण करना ही सधता हो, तो उसे अध्यात्म सम्मत क्रिया नही कहा जा सकता। वह तो आश्रव क्रिया ही है अत. मुमुक्षु के लिये हेय है।

४. प्रचारक—भगवन्! हम भी अपने को अध्यात्मी समझते है। हमारे यहाँ आध्यात्मिक-साहित्य का भी प्रचुर सग्रह है और उसे बढाते रहते है। अध्यात्म-विषय का पठन-पाठन, चर्चा और लेख-प्रवचन आदि द्वारा प्रचार भी करते है, इतने पर भी हमे अपने दीपक के तले अन्धेरा ही नजर आता है। कृपया इस अन्धेरे से मुक्त होने के लिये हमे कुछ मार्ग-दर्शन कराइये।

सन्त आनन्दघनजी—प्यारे! आध्यात्मिकता चार तरह की होती है—

(१) नाम आध्यात्मिकता—आध्यात्मिक-साधना और आध्यात्मिक-साधन विहीन होने पर भी अपने आप को 'अध्यात्मी' मान लेना।

(२) स्थापना-आध्यात्मिकता—मन्दिर, मूर्ति, सत्संग-भवन आदि का निर्माण और आध्यात्मिक साहित्य का संग्रह आदि आध्यात्मिक साधन-मात्र से ही अपनी आध्यात्मिकता की इतिश्री समझना, किन्तु नियमित साधना मे प्रवेश तक न करना।

(३) द्रव्य-आध्यात्मिकता—सत्सग, भक्ति, दर्शन, पूजन, स्वाध्याय, सामायिक, प्रतिक्रमण, व्रत, तप, त्याग आदि सदनुष्ठान तो करना, पर चेतना को अन्तर्मुख आत्मस्थ न रखना। इतने पर भी अपने को सच्चे अध्यात्मी—मुमुक्षु, श्रावक किवा साधु-योगी मान लेना।

(४) भाव आध्यात्मिकता—इष्टानिष्ट कल्पना रहित शुद्ध चेतना के अन्तर्मुखी प्रवाह से केवल चैतन्य के स्पर्श पूर्वक क्रमश. आत्म-प्रतीति, आत्मलक्ष और आत्मानुभूति धारा को प्रकटाने वाले सद्गुरुप्रदत्त सदनुष्ठान मे दत्त चित्त रहना एव गुणविकास होने पर भी अहम् का न स्फुरना।

आध्यात्मिकता के इन चार भेदो मे से प्रथम के तीन भेद जो कि आपके चिर-परिचित हें, उनसे अब सम्बन्ध-विच्छेद कर दो, क्योकि वे अकार्यकारी हे और भाव आध्यात्मिकता कि जिससे आत्म-प्रतीति आत्मज्ञान एव आत्मसमाधि आदि आत्म गुणो के विकास पूर्वक आत्मारामता सधती है, उसे अपना लो। कमर कस कर उसे प्राप्त, करने की लौ लगादो। इसी से ही तुम्हारे दिल-दीपक की भी लौ लग जायगी।

५. नाम स्थापना और द्रव्य-रूप त्रिविध-अध्यात्म तो कोरा शब्द-अध्यात्म है, अर्थ अध्यात्म नही, क्योकि अर्थ-अध्यात्म केवल भाव अध्यात्म-स्वरूप है और यही मुमुक्षु के लिए प्रयोजन-रूप है—इस रहस्य को जबसे सुना तब से ही निर्विकल्पता ग्रहण करके चित्त को अन्तर्मुख चैतन्याकार स्थिर कर दो और सचमुच आध्यात्मी बनो, क्योकि शब्द-अध्यात्म से कार्य सिद्धि हो-या-न हो ? कुछ कहा नही जा सकता। यदि भाव अध्यात्मी सद्गुरु का निश्चय और आश्रय हो तब तो वह अर्थ-अध्यात्म का कारण बन सकता है, अन्यथा उससे आत्म-वचँना ही होती है। अतः कोरे शब्द अध्यात्मी रह कर व्यर्थ मे कालक्षेप करके आत्म-वचँना-रूप नुकसान मत उठावो। अधिक क्या कहूँ ?

६. प्रचारक—भगवन् ! सच्चे आध्यात्म निष्ठ सद्गुरु को हम कैसे पहचान सके ?

सन्त आनन्दघनजी—उनके वाणी और वर्तन से। जो सचमुच आध्यात्म निष्ठ होते है उनका मन सतत आत्म-विचार द्वारा अन्तर्मुख आत्माकार ही बना रहता है—अतएव उनकी दृष्टि प्रायः स्थिर रहती है। उनकी वाणी अपूर्व पूर्वापर सुसम्बद्ध, स्व-पर वस्तु की यथास्थित वस्तु-स्थिति प्रकाशक, समन्वयात्मक, आत्मार्थ प्रेरक और अविसवादिनी होती है, एव उनका शरीर भी अचपल रहता है। दरअसल पुष्ट ज्ञानानन्द को प्रदान करने वाले जिनेन्द्र देव के वे ही सच्चे अनुयायी है कि जो मोक्ष-मार्ग मे एकनिष्ठ है, अतः मुमुक्षुओ को एक निष्ठा से वे ही उपासनीय है। शेष सभी तो भेषधारी समझकर दूर से ही नमस्करणीय है। सुज्ञेषु कि बहुना ?

"मुमुक्षुओ के नेत्र ही महात्मा को पहचान लेते है"

श्री वासुपूज्य जिन स्तवन

(राग-गौडी-तुंगिया गिर सिखर सोहै—ए देशी)

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी, घणनामी परणामी रे ।
निराकार साकार सचेतन, करम करम फल कामी रे ।। वासु० ।।१।।

निराकार अभेद संग्राहक, भेद ग्राहक साकारो रे ।
दर्शन ज्ञान दु भेद चेतना, वस्तु ग्रहण व्यापारो रे ।। वासु० ।।२।।

करता परिणामी परिणामो, करम जे जीवें करिये रे ।
एक अनेक रूप नयवादे, नियते नय अनुसरिये रे ।। वासु० ।।३।।

सुख दुख रूप करम फल जाणो, निश्चय एक आनंदो रे ।
चेतनता परिणाम न चूकै, चेतन कहे जिनचंदो रें ।। वासु० ।।४।।

परिणामी चेतन परिणामो, ज्ञान करम फल भावी रे ।
ज्ञान करम फल चेतन कहिये, लीज्यो तेह मनावी रे ।। वासु० ।।५।।

आतमज्ञानी श्रमण कहावै, बीजा तो द्रव्यलिंगी रे ।
वस्तु-गतें जे वस्तु प्रकासै, 'आनन्दघन' मत संगी रे ।। वासु० ।।६।।

१२· श्री वासुपूज्य-स्तवनम्

आत्मज्ञान की कुंजी :

प्रचारक—भगवन्! आपने जो भी फरमाया है वह सभी यथार्थ है, पर हमारे गुरुजनो को हम कैसे छोड़े? राजे-महाराजे भी जिनके चरण छूते है, लाखो लोग जिनके अनुयायी है और उनकी कृपा से ही हमारी प्रवक्ता के रूप मे सर्वत्र प्रसिद्धि है, फलतः हम सुख पूर्वक रोटी पा रहे है। तक भला! आपही बताइये कि हम क्या करे?

१ सन्त आनन्दघनजी—अहो! अपने ही पूज्य इष्टदेव श्री वासुपूज्य भगवान जिस हेतु से सम्पूर्ण ज्ञानानन्द और वहुत से नामो से रूपान्तरित विश्वव्यापी प्रसिद्धि पाकर त्रिभुवन स्वामी बने, उनकी उस जिन-वीतराग दशा को नित्य पूजते हुये भी परिणामतः यह वासु अर्थात् जीवात्मा, स्वय मिथ्यान्धकार से ग्रसित होने पर भी केवल पेट भराई के लिये ही ज्ञानी के रूप मे अपनी अत्यधिक प्रसिद्धि चाहता हुआ सतत प्रयत्नशील है, इसीलिये यह कर्म तथा कर्मफल का कामी, अपनी देखने-जानने की सारी चैतन्य-शक्ति को व्यर्थ ही यत्र-तत्र लगा रहा है, और फिर भी दिल का दीया सुलगाने की आशा रखता है—यह कितने आश्चर्य की बात है?

प्यारे! जग-विष्टा तुल्य रोटी और शुकरी विष्टा तुल्य लोक-प्रतिष्ठा के पीछे तो द्रव्य, भाव और नोकर्म की ही कमाई होगी, एव इसके फल-स्वरूप आपको अन्तर्दाह-रूप शाता तथा बाह्यान्तर्दाह-रूप अशाता—की अग्नि की ही लपटे लगेगी, पर दिल का दीया और तज्जन्य आत्मानन्द का अनुभव कदापि नही हो सकेगा।

२ दिल के दीये का सुलगना तो तभी सम्भव है, जबकि तत्त्व-निर्णय से निश्चित होकर अपनी चेतना देखने-जानने की सारी चैतन्य-ताकत केवल स्व-तत्त्व ग्रहण के ही व्यापार मे अनवरत लगी रहे।

चेतना—चैतन्य प्रकाश-शक्ति का उपयोग—व्यवहार प्रयोग द्विविध होता है, एक तो द्रव्यों की किंवा पर्याय विशेषो की अभिन्नता पूर्वक स्व-पर-सत्ता-सामान्य को ग्रहण करने वाला दृश्याकार—जो दर्शन कहलाता है और दूसरा द्रव्यो की किंवा पर्याय विशेषो की विभिन्नता पूर्वक स्व-पर-सत्ता-विशेष को ग्रहण करने वाला ज्ञेयाकार-जो ज्ञान कहलाता है।

समग्र चेतना की निर्विकल्पता के लिये—इन दोनों में से जैसे दर्शन-चेतना निर्विकल्प है वैसे ही ज्ञान-चेतना का भी निर्विकल्प-रूप मे परिणमन होना अनिवार्य है, और वह तभी सम्भव है जबकि स्व-तत्त्व का ही ग्रहण हो जो कि केवल परमशुद्ध-निश्चयनय के ही अवलम्बन से होता है।

३ स्व-पर तत्त्व के परीक्षण के लिये नय-परिज्ञान आवश्यक है। अश द्वारा अशी का ज्ञान कराने वाला दृष्टिकोण नय कहलाता है। वचन के जितने विकल्प है उतने ही नय है, पर मुख्य रूप मे उनकी दो श्रेणिया है—एक निश्चयनय श्रेणी और दूसरी व्यवहारनय श्रेणी। गुण पर्यायो की अभेदता पूर्वक पदार्थ के प्रायः स्वभाव एकत्व को बतलाने वाला दृष्टिकोण निश्चयनय कहलाता है, इसके परमशुद्ध-निश्चयनय विवक्षितैक देश-शुद्ध-निश्चयनय, शुद्ध-निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय आदि अनेक भेद है। पर के निमित्त से होने वाले कार्य-व्यपदेश युक्त गुण-पर्यायो की भिन्नता पूर्वक पदार्थ को बतलाने वाला दृष्टिकोण व्यवहारनय कहलाता है, इसके अनुपचरित सद्भूत-व्यवहारनय, उपचरितसद्भूत-व्यवहारनय, अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय, उपचरित असद्भूत-व्यवहारनय आदि अनेक भेद है। निश्चयनय द्रव्याश्रित और स्वावलम्बी है जबकि व्यवहार नय पर्यायाश्रित और परावलम्बी है।

व्यवहारनय षट् कारको की भिन्नता बतलाता हुआ कर्त्ता, कर्म

और क्रिया की अनेकता से द्रव्य-पारतन्त्र्य सिद्ध करता है, और कहता है कि आत्मा तथा शरीर कथचित् एक है। आत्मा जड़ कर्मो का कर्त्ता है अतएव जड़कर्म-फल भी भोक्ता है और यह जड़ कर्मो से आबद्ध है। इसी के निमित्त से जड़-परिणमन होता है एव इसमे राग आदि है।

निश्चयनय षट् कारको को अभिन्न बतलाता हुआ कर्त्ता, कर्म और क्रिया की एकता से द्रव्य-स्वातन्त्र्य सिद्ध करता है, और इसका कहना है कि जो परिणामी है वही कर्त्ता है, कर्त्ता के जो परिणाम है वे ही कर्म है एव कर्त्ता की जो परिणति है वही क्रिया है। परिणामी के बिना परिणति और परिणाम नही एव परिणति तथा परिणाम के बिना परिणामी नही, अतः ये तीनो ही धर्म, धर्मी के अभिन्न अग है क्योकि प्रदेश-भेद नही है—इस न्याय से जड़-परिणति और जड़-परिणाम जड़ परिणामी से अभिन्न एव स्वतत्र है, तथा चेतन द्वारा की जाने वाली देखने-जानने-रूप चैतन्य परिणति और दर्शन-ज्ञान आदि चेतना-परिणाम चेतन-परिणामी से अभिन्न एव स्वतत्र है, अतः चेतन के निमित्त से जड़-परिणमन किंवा जड़ के निमित्त से चैतन्य-परिणमन नही होता। लक्षण भेद के कारण आत्मा और शरीर एक नही प्रत्युत भिन्न भिन्न है। आत्मा जड़ कर्मो का कर्त्ता नही है अतएव जड़ कर्म-फल का भोक्ता भी नही है, और स्पर्श गुण से रहित होने के कारण जड़ कर्मो से वह आबद्ध नही है। अधिक क्या! आत्म-स्वभाव मे राग आदि का स्वतत्र अस्तित्व है ही नही।

इस प्रकार नय कथन के रहस्य को जान कर के भी यदि जीव, नियति अर्थात् निश्चयनय को गौण करके इतर अर्थात् तद्भिन्न व्यवहार नय का ही प्रधानतः अनुसरण करता रहे, तो उसकी ज्ञान-चेतना शुभाशुभ-कल्पना जाल मे उलझ कर सतत सविकल्पी ही बनी रहेगी। और उस दशा मे उत्पन्न तीव्र-मन्द कषाय-उत्ताप को निमित

करके जड़-कार्मा ण-अणु, गैस बन कर चैतन्य प्रदेश में सतत फैलता हुआ कर्म बादल के रूप में सघन बनता रहेगा। जिससे दिल का दीया अर्थात् चेतन-सूर्य का ज्ञान-प्रकाश कर्म-कालिमा से सदैव दबा-सा रहेगा। फलतः शाता-अशाता के अन्तर-बाह्यान्तर अग्निदाह से झुलसता हुआ चेतन सुख-दुख का सतत अनुभव करता ही रहेगा—यह सैद्धान्तिक तथ्य है।

४. ये सुख-दुख तो खुद के शुभाशुभ-कल्पना-अपराध से उत्पन्न जड़-कर्म के ही फल हैं—ऐसा जान कर कर्म और कर्म-फल से उदासीन होकर यदि जीव व्यवहारनय को गौण करके निश्चयनय का प्रधानत अनुसरण करता हुआ स्व-तत्त्व-ग्रहण मे ही तल्लीन रहे, तो उसकी ज्ञान-चेतना स्वत ही निर्विकल्प हो जाय। जिससे कार्माण-गैस बनना रुक जाय और ज्ञानाग्नि चेतन होकर पूर्व-सचित कर्म-बादलों को निःसत्त्व करके बिखेरती रहे। फलतः चेतन-सूर्य की अखण्ड अनन्त चेतन-ज्योति प्रत्यक्ष निरावरण होने-रूप दिल का दीया चेत जाय और चैतन्य-प्रदेश मे सर्वत्र सहज ही मे आनन्द की गगा लहराने लग जाय।

वास्तव मे जिनेश्वर भगवान उसे ही चेतन कहते है कि जो प्रतीति, लक्ष और अनुभूति-धारा से अपने स्वरूपानुसन्धान को स्थायी वनाये रखे। अपने ही देखने जानने वाले ज्ञायक स्वभाव को सतत देखता-जानता हुआ उसी मे ही तन्मय रहे। चेतन और चेतना को अभिन्न रखे। इस कार्य मे जरा सी भी क्षति न होने दे अर्थात् चेतना की रत्नत्रय-परिणाम धारा खण्डित न हो जाय जिसकी पूर्णतः सावधानी रखे, अतएव स्व-स्वरूप मे सतत जागरूक रहे।

५. स्वभावतः परिणमनशील चेतन ज्ञान स्वरूप है। जो स्वय ज्ञानस्वरूप है, वह परिणमन द्वारा परिणाम में ज्ञान-कर्म के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता? क्योकि केवल जानना ही जिसका स्वभाव

है, राग, द्वेष आदि की मिलावट रहित निखालिस जानना ही केवल जानना है, और केवल जानने की क्रिया-ज्ञप्ति-क्रिया करने पर उसके फल-स्वरूप निराकुल आनन्द का अनुभव होना स्वाभाविक है, क्योकि आकुलता तो राग-द्वेष की मिलावट पूर्वक जानने-रूप अज्ञान-कर्म का ही फल है—ज्ञान कर्म का नही, अतः ज्ञानकर्म तथा ज्ञानकर्म के फलस्वरूप आनन्द की ही सतत अनुभूति करनेवाला चेतन ही चेतन कहलाता है। शेष सभी मोहनिद्राधीन स्व-स्वरूप मे असावधान नाम-मात्र के चेतन तो जड़वत् है।

प्यारे। प्रमाद मे क्यो कालक्षेप कर रहे हो ? जागो ! जागो !। और मोहनिद्रा से मुक्त होकर अपनी चेतना को किसी तरह समझा-बुझा कर अपने चेतन-स्वरूप का साक्षात्कार करो। व्यर्थ-चिन्तन, व्यर्थ-बकवाद और व्यर्थ-चेष्टा मे अपनी शक्ति का दुर्व्यय मत करो। क्योकि मृत्यु का आना अनियमत और अनिवार्य है, जबकि आत्म-साक्षात्कार किये बिना मृत्युरोग मिटने वाला नही है।

६. त्रिविध कर्म से भिन्न कारण-परमात्मा-रूप आत्मा को स्व-स्वरूप-रूप मे समझ लेने मात्र से कोई आत्मज्ञानी नही कहा जा सकता, क्योकि आत्मज्ञानी का मुख्य लक्षण आत्मसाक्षात्कार है कि जो दूज के चन्द्र-प्रकाशवत् अपने ही निरावरण चैतन्य-प्रकाश द्वारा होता है। जैसे दूज के चन्द्र-प्रकाश से चन्द्र का पूर्ण बिम्ब, उस पर का शेष आवरण-विभाग और प्रकाश क्षेत्र की मर्यादा मे रहे हुये विश्व के सभी रूपी पदार्थ ज्यो-के-त्यो भिन्न-भिन्न रूप मे चाहे मन्द ही सही किन्तु दिखाई पड़ते है; वैसे ही आत्मज्ञान-प्रकाश से सर्वांग आत्म-स्वरूप, उस पर का शेष आवरण विभाग और विश्व के सभी रूपी-अरूपी पदार्थ भिन्न-भिन्न रूप मे चाहे मन्द ही सही किन्तु इन्द्रियो की मदद बिना ही दिखाई पडते है—इस न्याय से आत्मज्ञान ही केवलज्ञान का बीज है, क्योकि इसी के अवलम्बन से पूर्णिमा के पूर्ण चन्द्रवत् सम्पूर्ण केवलज्ञान-स्वरूप आत्मा का सम्पूर्ण आविर्भाव होता है।

आत्मज्ञान होने के पश्चात् निद्राकाल मे भी आत्म प्रतीति बनी रहती है। क्योकि अपने उपयोग को चैतन्य-पिण्ड मे ही लगा कर आत्मज्ञानी शरीर को लिटाते है, अतः उनकी निद्रा भी योग-निद्रा कहलाती है। जब तक आत्म-प्रतीति-धारा अखण्ड बनी रहे किन्तु निवृति और प्रवृत्ति मात्र मे आत्म लक्ष न जम पाये तब तक साधकीय इस दशा को अविरति-सम्यक्-दृष्टि कहते है। आत्म-प्रतीति की अखण्डता के साथ जब तक निवृत्तिकाल मे तो आत्म-लक्ष अखण्डित जमा रहे पर प्रवृत्ति काल मे वह खण्डित हो जाता हो तब तक साधक की यह एक देशीय स्वरूप-लक्ष-स्थिरता रूप आत्मदशा देशविरति कहलाती है। जबकि प्रवृत्ति-मात्र मे भी किसी भी देश, काल और परिस्थिति से आत्मलक्ष धारा जरा-सी भी खण्डित न हो, सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा वह सतत अखण्डित ही सिद्ध हो जाय तब साधक की इस आत्मदशा को सर्वविरति कहते है।

आत्मा के लक्ष को जमाये रखने-रूप प्रयोग को सम्यक्-प्रयोग कहते है और सम्यक्-प्रयोग पूर्वक की प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। सर्वविरति प्रधान आत्म दशा मे वैसी केवल पाच ही सम्यक्-प्रवृतियाँ अवशेष रह जाती हैं। जब तक शरीर मे क्षुधा रोग है तब तक उसके प्रशमन के लिए (१) आहार (२) निहार (३) बिहार की प्रवृत्तियाँ अनिवार्य है और अनिवार्य है (४) सयम के लिये सयमोपकरण का ग्रहण-त्याग तथा (५) लोक प्रसग मे उचित सभापण भी। सयम की पूरक शेष सभी उपप्रवृत्तियो का इन्ही पाँच समितियो मे समावेश हो जाता है। समिति काल के अतिरिक्त तमाम निवृत्तिकाल मे आत्म-रमणता के लिए आत्म-उपयोग को केवल अनुभूति के बल से मन-वचन-कायरूप त्रियोग से असग करके उसे स्व-स्वरूप मे गुप्त रखना ही त्रिगुप्ति कहलाती है। साधक की यह स्वरूप-गुप्त आत्मदशा ही अप्रमत्त-सर्वविरति-दशा किंवा परमहसदशा कहलाती है। इस सर्वोत्तमदशा से नीचे

उतरना प्रमाद है अतः उस साधक को समितिकाल में प्रमत्त-सर्व-विरति कहते हैं।

आत्म-साक्षात्कार से उत्पन्न आत्मज्ञान द्वारा आत्म-रमणता के अथक पुरुषार्थ-प्रयत्न मे जो अनवरत लगे रहते है, वे ही सच्चे परि-श्रमी सच्चे 'श्रमण' है, और पुष्ट आत्मानन्द को प्रदान करने वाले वीतराग-पथ के पथिक वे ही सच्चे साधु है। उन्ही के सुलगे हुये दिल-दीपक के निश्चय और आश्रय से ही मुमुक्षुओ का दिल का दीया सुलग सकता है, क्योकि उन्हे स्व-पर तत्व का साक्षात्कार होने से वे ही तत्त्व रहस्य को अनुभव-बल द्वारा यथास्थित प्रकाशित कर सकते है, अतः सद्गुरु के रूप मे मुमुक्षुओ को उनका ही संग-प्रसग रखना चाहिये। दूसरे बुझे हुये दिल दीपक वाले अनुभव-शून्य वाचा-ज्ञानी मात्र द्रव्य-लिगियो को असद्गुरु समझकर उनके सग-प्रसग से सदा बचते रहना चाहिए, क्योकि वे केवल क्रिया-जड़त्व किंवा शुष्कज्ञान की जाल मे उलझा कर अन्धमार्ग-परम्परा के दुराग्रह मे फॅसा देते है। लाखो लोग भक्त होना ओर राजे-महाराजे द्वारा पूजाना ये कोई सद्-गुरु के लक्षण नही है, किन्तु सद्गुरु का मुख्य लक्षण तो आत्मज्ञान ही है।

श्री विमल जिन स्तवन

(राग-मल्हार-इडर आंबा आबली रें, इडर डाडिम दाख—ए देशी)

दुख दोहग दूरै टल्या रे, सुख सम्पत सुं भेट।
धींग धणी माथै कियो रे, कुण गंजै नरखेट॥
विमल जिन दीठा लोयणे आज, म्हारा सीझा वंछित काज॥ विमल०॥१॥

चरण कमल कमला बसै रे, निरमल थिर पद देख।
समल अथिर पद परिहरीरे, पंकज पामर पेख॥ विमल०॥२॥

मुझ मन तुझ पद-पंकजे रें, लीनो गुण मकरन्द।
रंक गिणे मंदर धरा रे, इन्द्र चन्द नागिन्द॥ विमल०॥३॥

साहब समरथ तूं धणी रे, पाम्यो परम उदार।
मन विसरामी वालहो रे, आतम चो आधार॥ विमल०॥४॥

दरसण दीठे जिन तणो रे, संसय रहे न वेध।
दिनकर कर भर पसरतां रे, अंधकार प्रतिषेध॥ विमल०॥५॥

अमी भरी मूरति रची रे, उपमा घटै न कोय।
शांत सुधारस झीलती रे, निरखत तृपति न होय॥ विमल०॥६॥

एक अरज सेवक तणी रे, अवधारो जिनदेव।
कृपा करी मुझ दीजिये रें, 'आनन्दघन' पद सेव॥ विमल०॥७॥

१३. विमलजिन-स्तवनम्

भक्ति मार्ग की प्रधानता और रहस्य :

प्रचारक—भगवन् ! दीये दीया होता है—यह उक्ति मेरे दिमाग मे बैठ गई, अतः आज से ही मै आपकी साक्षी पूर्वक उन केवल द्रव्य-लिगी असद्गुरुओ की निश्रा का शुद्ध योग-त्रिक की त्रिविध शुद्धि से त्याग करता हूँ और सभी ज्ञानियो की साक्षी से आपकी ही अनन्य शरण लेता हूँ । कृपया आप अपने शरण मे लेकर इस पामर को को कृतार्थ कीजिये ।

प्रभो ! मै बचपन मे शास्त्रीय-ज्ञान न होने पर भी जब तक प्रभु-भक्ति करता था, तब तक मेरे हृदय मे लघुता और प्रभु-प्रेम बना रहता था, किन्तु शास्त्रीय-ज्ञान पढ कर जब से मैं अध्यात्म चिन्तन की ओर झुका, तब से धीरे-धीरे मेरे हृदय मे से प्रभु-भक्ति तो गौण होती गई और उल्टे शुष्कता एव गर्व बढते गये । साथ ही असद्गुरुओ की कृपा से पेट भराई और नामवरी के पीछे मे बह गया । फलतः मेरी विद्या भी अविद्या का कारण बनी रही । अब मैं इस बला से कैसे छूटूं ?

सन्त आनन्दघनजी—महानुभाव ! यद्यपि अध्यात्म-चिन्तन शुक्ल ध्यान का अनन्य कारण है, पर जब तक सद्गुरु की प्रत्यक्ष निश्रा मे विषय-कषायो के जय पूर्वक प्रभु-भक्ति द्वारा दर्शन-मोह क्षीण न हो जाय तब तक मात्र अध्यात्म-चिन्तन से चित्त, केवल कल्पना प्रवाह मे बहता रहता है पर ज्ञाननिष्ठ नही हो पाता, अतः चिन्तक उल्टे सन्देह, शुष्कता और गर्व आदि दोष-जाल में फँस कर स्वच्छन्द हो जाता है । सजीवन-मूर्त्ति की कृपा बिना उसे उस जाल से छूटना सम्भव नही, इसीलिये 'आणाए धम्मो' अर्थात् सद्गुरु की आज्ञानुसार चलने पर भी मोह-क्षोभ रहित धर्म हो सकता है—ऐसा जिनागमों मे

सर्व-साधारण उपदेश है। क्योंकि स्वरूपनिष्ठ श्री सद्गुरु-मुख से साध्य, साधन और साधकीय पात्रता के स्वरूप रहस्य को समझे बिना आत्म-साक्षात्कार की साधना मे प्रवेश तक नही हो पाता। अध्यात्म चिन्तन के योग्य उपयोग की शुद्धता एव सूक्ष्मता के लिए दर्शनमोह को परिक्षीण करना अनिवाय है और उसके लिये अनिवार्य है भक्ति-पथ का पथिक बनना, क्योकि चित्त शुद्धि के लिए भक्ति-मार्ग ही प्रधान-मार्ग है।

अपनी आत्मा मे ही परमात्मा का अभिन्न रूप मे अनुभव करने वाले प्रत्यक्ष-सद्गुरू मे अथवा उनसे परमात्मदशा के रहस्य को समझ कर उनकी आज्ञानुसार परोक्ष परमात्मा की बोध और आचरण-रूप प्रत्यक्ष-स्थापना-मूर्ति मे परमात्म-भाव को स्थापन किये बिना साधक के हृदय मे भक्ति-भावना की स्फूर्ति ही नही होती। आत्मसाक्षात्कार के हेतु साधक के लिए बीज-केवलज्ञानी की निश्रा और सम्पूर्ण-केवल-ज्ञानी की निश्रा दोनो एक-सी है अतः वैसे सद्गुरु एव परमात्मा मे कोई अन्तर नही है, तथा प्रत्यक्ष परमात्मा और उनकी परोक्षता मे उनके बोध-शिक्षा एव आचरण-शिक्षा की स्थापना-प्रत्यक्ष शब्दमूर्ति-रूप सत्शास्त्र तथा चैतन्य-पिण्ड-मूर्ति-रूप प्रत्यक्ष जिन मुद्रा मे भी कोई अन्तर नही है, फिर भी जो जितना अन्तर मानता है उसे आत्मसा-क्षात्कार मे भी उतना ही अन्तर पड़जाता है—ऐसा ज्ञानियो का अनु-भव है। क्योकि अन्तर मानने पर उनके प्रति न अटल विश्वास पैदा होता है और न परम आदर-सत्कार, भक्ति-बहुमान भी। अटल विश्वास और परम-भक्ति भाव को जगाये बिना ही कोरी सत्शास्त्र-उपासना से मस्तिष्क-शुद्धि नही होती, तथा कोरी जिन-मुद्रा की उपा-सना से हृदय-शुद्धि नही होती। मस्तिष्क-शुद्धि के बिना सम्यक्-विचार का उदय नही होता और हृदय-शुद्धि के बिना सम्यक्-आचार मे प्रवेश नही होता। सम्यक्-विचार के बिना स्वरूपानुसन्धान नही बनता और सम्यक्-आचार के बिना चित्त की चचलता नही मिटती। स्वरूपानु-

सन्धान और चित्त की स्थिरता के बिना आत्मसाक्षात्कार कदापि नहीं हो सकता—यही निष्कर्ष है।

केवल जिनवाणी किंवा केवल-जिनमुद्रा की उपासना अपूर्ण उपासना है—सम्पूर्ण नही। जिनवाणी द्वारा जिनदशा का माहात्म्य समझ कर परम प्रेम और उल्लास पूर्वक जिनमुद्रा का ज्यो-ज्यों स्मरण और और ध्यान स्थिर होता है, त्यो-त्यो भक्त के हृदय-पट पर प्रभु छवि अकित होती हुई स्थिर होती है, तब भक्त-हृदय नाच उठता है, एव आनन्द विभोर होकर भक्त अन्तर्ध्वनि से ललकारता है कि—

१ ओ हो! धन्यभाग मेरे कि आज मेरी अन्तर्चक्षु से मैंने राग आदि रहित शुद्ध चैतन्यमूर्ति जिनेश्वर भगवान को प्रत्यक्ष देखे। अहो! अब मेरे चतुर्गति-भ्रमण के जन्म-मरण आदि एव मिथ्याधकार आदि दुर्भाग्य दूर हो गये, और अनन्त सुख आदि नव-निधान युक्त समस्त स्वरूप सम्पदा मिल चुकी, क्योकि समस्त स्वरूप-सम्पत्ति और शक्ति सम्पन्न त्रिभुवन स्वामी ने मुझे गोद ले लिया—अपना अनन्य शरण प्रदान कर दिया। अब प्रभु की छत्र-छाया मे खड़े-निवासी रक जन वत् काम, क्रोध आदि विषय कषाय मे से किसकी ताकत है कि जो मेरी अवज्ञा कर सके? और ग्राम्य-जनोचित गरीबी भी मुझे कैसे सता सकती है।

२. भगवन्! आपकी समवशरण आदि बाह्य अतिशय-सम्पदा का भी मैं क्या वर्णन करूँ? कमल-निवासिनी कमला-लक्ष्मी, राग-द्वेष आदि मल को उत्पन्न कराने वाली और एक स्थान मे कदापि स्थिर न रहने के स्वभाव वाली हाथी के कान जैसी चपल कहलाती है, पर अहो! उसने भी आपके कैवल्य-पद को राग आदि मल से रहित एवं स्थिर देखते ही तुरन्त अपनी समल और चपल उपाधि का परित्याग कर दिया; तथा अपने निवास स्थान 'कमल' को तुच्छाति-

तुच्छा समझ कर, उससे अपना मुँह मोड़ कर आपके चरण-कमलो को अपना निवास-स्थान बना कर यह स्थिर हो गई।

३. दयालु! आपकी दया से मेरा भी यह मन-भ्रमर आपके चरण-कमलो के चैतन्य-गुण-रस-पान मे तल्लीन होकर इतना मस्त हो गया है कि चन्द्रवत् उज्ज्वल चन्द्रेन्द्र, धरणेन्द्र, शक्रेन्द्र आदि देवो के इन्द्रपद, तथा महालय, खजाने आदि अपार सामग्री युक्त वसुन्धरा के चक्रवर्ती-पद की समस्त विभूति को साक्षात् विभूति-राख तुल्य तुच्छ समझ कर उस ओर नजर उठा कर भी नही देखता।

४. हे परमेश्वर! विश्व मे आपकी साहिबी ही सर्वोत्कृष्ट है। आप जैसे सर्वसमर्थ स्वामी को पाने से अब कर्म-शत्रु मेरा बाल भी बाँका नही कर सकते। अहो! आपकी उत्कृष्ट उदारता! कि जो सेवक को ही सेव्य बना देती है। हे मनविसरामी! मेरे मन को आप इतने प्रियतम हो चुके है कि इधर-उधर की नाचकूद छोड़कर यह केवल आपमे ही स्वतः स्थिर रहता है। हे आत्माधार! आपकें नाम-स्मरण से मुझे शरीर, ससार और भोगो का भी विस्मरण हो चुका है। मेरे हृदय मे आपकी छवि की स्थापना हो जाने के बाद अब मुझे प्राणीमात्र मे आप-ही-आप सर्वत्र नजर आते है। आपका आत्म-द्रव्य मेरे आत्म-द्रव्य को शरीर आदि से सर्वथा भिन्न बतलाता है, और आपके आत्म-स्वभाव के अवलम्बन से मेरे चिद्-विकार स्वतः क्षीण हो रहे है। इस तरह चौ—चारो ही प्रकार से आप मेरे आत्म-कल्याण के लिये परम आधार है।

५ हे स्वय ज्योति! पृथ्वी तल पर जैसे सूर्य के किरण-समूह चमकते ही अन्धकार का अस्तित्व स्वतः मिट जाता है, वैसे ही मेरे हृदय-प्रदेश मे आपकी जाज्वल्यमान छबि के चमकते ही शरीर मे आत्म-भ्रम उत्पन्न कराने वाले मिथ्यान्धकार का अस्तित्व भी स्वतः

मिट गया, और अनादि काल से कलेजे को कुरेद-कुरेद कर खाने वाले सशय-कीट न जाने कहाँ लापता हो गये।

६. हे अमृत-सागर! आपकी छवि-छटा की अद्भुत रचना का मैं क्या वर्णन करूँ? यह तो साक्षात् अमृत का ही भरा पिण्ड है। विश्व भर मे ऐसा कोई पदार्थ ही नही है कि जो इसकी उपमा देने मे भी उपयुक्त हो सके। आपकी इस अनुपम मूर्त्ति को एक टक देखती हुई मेरी दृष्टि भी सुधारस से सतत स्नान कर रही है, फिर भी इसे सन्तोष नही होता, क्योकि इससे इसे अपार शान्ति मिल रही है अतः यह हटाने पर भी नही हटती।

७. हे जिनेन्द्र देव! आपने असीम कृपा करके मुझे जो यह अक्षय पुष्ट आत्मानन्द को प्रदान करने वाली अपनी चरण-सेवा बख्शी है वह, जबतक मैं भव-मुक्त न हो जावूं तब तक भवोभव मे अखण्ड रूप में बख्शाते रहियेगा—बस यही इस रक सेवक की एक छोटी-सी प्रार्थना है, जिसकी स्वीकृति देकर मुझे कृतकृत्य कीजियेगा।

श्री अनन्त-जिन-स्तवन

(राग—रामगिरी कड़खो)

धार तरवार नी सोहिली दोहिली, चउदमा जिन तणी चरण सेवा ।
धार परि नाचता देखि बाजीगरा, सेवना-धार परि रहै न देवा ।। धार० ।।१।।

एक कहै सेविये विविध किरिया करी, फल अनेकात लोचन न देखै ।
फल अनेकात किरिया करी बापड़ा, रडबडै चार गति मांहि लेखै ।।धार०।।२।।

गच्छ ना भेद बहु नयण निहालतां, तत्त्वनी बात करतां न लाजै ।
उदरभरणादि निजकाज करतांथकां, मोहनडिया कलिकालराजै ।।धार०।।३।।

वचन निरपेख व्यवहार भूठौ कह्यो, वचन सापेख व्यवहार सॉचो ।
वचन निरपेख व्यवहार संसार फल, सांभली आदरी कांइ राचो ।।धार०।।४।।

देव गुरु धर्म नी शुद्धि कहो किम रहै, किम रहे शुद्ध श्रद्धान आणो ।
शुद्ध श्रद्धान विण सर्व किरियाकरी, छारि परि लीपणो तेह जाणो ।।धार०।।५।।

पाप नहिं कोइ उत्सूत्र भाषण जिस्यो, धर्म नहिं कोइ जग सूत्र सरिखो ।
सूत्र अनुसार जे भविक किरिया करै, तेहनो शुद्ध चारित्र परिखो ।।धार०।।६।।

एह उपदेश नूं सार संक्षेप थी, जे नरा चित्तमां नित्य ध्यावै ।
ते नरा दिव्य बहुकाल सुख अनुभवी, नियत 'आनन्दघन' राज पावै ।।धार०।।७।।

१४. श्री अनन्त-जिन-स्तवनम्

चारित्र का पारमार्थिक रहस्य :

प्रचारक—भगवन्! जिनवाणी मे जहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता को मोक्ष-मार्ग बताया, वहाँ सम्यक्त्व पूर्वक देखने, जानने और आचरण द्वारा ही भव-वन्धन से आत्मा का मोक्ष बताया, अतः सम्यक्त्व ही मोक्ष-मार्ग की रेखा है—ऐसा सिद्ध हुआ। चित्त शुद्धि के विना सम्यक्त्व की प्राप्ति नही होती और चित्त शुद्धि के लिए प्रधानत प्रभु-भक्ति करना अनिवार्य है—इस विषय मे आपने जो रहस्य पूर्ण दिग्दर्शन कराया वह कितना हृदयगम और अद्भूत है। यद्यपि प्रचारक के नाते जैन-अजैन अनेक सम्प्रदायो के बहुत से धर्माचार्यो का इस दास को व्यापक परिचय है, पर ऐसा हृदयगम और अद्भुत निरूपण आज तक हमने कही से कभी भी नही सुना था।

वर्तमान मे जैनो की दिगम्बर और श्वेताम्बर उभय श्रेणियों की तत्व निरूपण शैली और साधना प्रणाली कितनी विचित्र और अर्थ-शून्य है—यह आपसे छिपी हुई नही है। सभी गच्छवासी धर्माचार्यो के पास से सम्यक्त्व तो केवल वाजारू सब्जी के मोल, अपने सिवाय अन्य किसी को भी सच्चे गुरु न मानने के तोल मुँहमाँगा मिलता है। और चारित्र भी इतना सस्ता है कि पीछी-कमण्डलु किंवा ओघा-मुहप्ती के धारण पूर्वक वस्त्ररहित किंवा परिमित वस्त्र सहित वेशभूषा वना ली कि मोक्ष-मार्ग के सच्चे साधु के रूप में छट्ठे-सातवे गुणस्थान प्रधान आत्मदशा का प्रमाण-पत्र मिल ही जाता है। प्रभो! चारित्र का वाजार क्या इतना सस्ता हो सकता है?

१, सन्त आनन्दघनजी—सुज्ञ! चौदहवे तीर्थङ्कर श्री अनन्तनाथ प्रभु जिस चारित्र मार्ग की अप्रमत्त धारा पर चल कर क्रमशः चौदह गुणस्थानो को पार करके सिद्धालय मे पहुँचे, उस चारित्र का मुख्य

लक्षण है—अपनी दर्शन-ज्ञान-चेतना की आत्माकार अखण्ड स्थिरता : किन्तु ओघा-मुहपत्ती किंवा पीछी-कमण्डलु—ये कोई चारित्र के मुख्य लक्षण नही हैं।

ताती तलवार की तीक्ष्णतम धार पर नगे पैर चलना—यह भी कोई दुष्कर नही है, क्योकि उस पर तो कितने ही बाजीगर नाचते-कूदते देखे जाते है, किन्तु उपरोक्त चारित्र-मार्ग की अप्रमत्त-धारा पर केवल असग उपयोग से चलना अत्यन्त दुष्कर है, क्योकि इस पर कदम रखने मे वे बाजीगर तो क्या? आत्मसाक्षात्कार सम्पन्न अचिन्त्य दिव्य शक्ति वाले देवलोक के अधिपति इन्द्र अहमिन्द्र भी समर्थ नही है, तब भला! आत्म साक्षात्कार विहीन ओघा-मुहपत्ती किंवा पीछी-कमण्डलु वाले कोरे द्रव्य-लिंगी बहिरात्मा किस तरह समर्थ हो सकते है? कि जो सम्यक्-चारित्र मार्ग से लाखो योजन दूर है और जिनमे सीरी तलवार की अतीक्ष्ण धार पर चलने जितना भी चित्त कौशल नही है।

२ प्रचारक—प्रत्येक गच्छवासी एक स्वर से आलापते हैं कि—चारित्र के बिना मोक्ष नही। चारित्र का मूल क्रिया है, अत चारित्र-आराधना के लिये षट् आवश्यक आदि विविध-क्रिया-कलाप का करना आवश्यक है, और यह जिनागम सम्मत ही होना चाहिये—तदनुसार तो केवल हमारे ही गच्छ की समाचारी है, अत. जिस पद्धति से हम विविध क्रियाए करते है वही पद्धति सम्यक् है, इसी से मोक्ष होता है, अन्य गच्छ वालो की समाचारियाँ सम्यक् नही है अतः उनसे मोक्ष तो क्या, सम्यक्त्व की प्राप्ति भी नही हो सकती, क्योकि दूसरे गच्छवासी सभी के सभी मिथ्यात्वी है—इस तरह सभी गच्छवासी एक दूसरे को मिथ्यात्वी कह कर अपनी मानी हुई क्रियाओ का आग्रह करके परस्पर झगड़ते है। फलत क्रियारुचि जीव दुविधा मे पड़ जाते है कि तीर्थङ्कर परम्परा का मुख्य गच्छ कौनसा? कौनसे

गच्छ की समाचारी जिनागम सम्मत है। और किस क्रिया विधान से मोक्ष-फल की प्राप्ति हो सकती है?—भगवन्! इस सारे कथन के पीछे छिपे हुये तथ्य पर कृपया प्रकाश डालिये!

सन्त आनन्दघनजी—शुद्धोपयोग की आत्माकार अखण्ड रमणता-रूप चारित्र आराधना के बिना मोक्ष नही होता और ज्ञप्ति-क्रिया के बिना चारित्र-आराधना नही होती। ध्यान द्वारा ध्येय-रूप केवल स्व-तत्व के ही स्पर्श को प्राप्त करानेवाली शुद्ध क्रिया ही 'ज्ञप्ति-क्रिया' कहलाती है, कि जो शुभाशुभ-भावो के सवर पूर्वक होती है। षट् आवश्यक आदि वचनोच्चारण-रूप जो विविध-शुभ क्रियाये है वे सभी स्वाध्याय के ही प्रकार है, कि जो स्वाध्याय अप्रमत्त से प्रमत्त होते समय आत्म-लक्ष को अखण्ड रखाने मे साधक के लिये एक प्रबल सहारा है। स्वाध्याय के निमित्त से ध्यान की उपादान कारणता विकसित होती है। तदनुसार जहाँ ध्यान ध्येयाकार जमा कि स्वाध्यायात्मक सभी शुभ तरग स्वत समा जाते है और ज्ञप्ति-क्रिया सधती है—इस तरह स्वाध्याय और ध्यान की परस्पर काय कारणता है, अतः कारण मे कार्योपचार करके स्वाध्याय-रूप षट् आवश्यक आदि शुभ क्रियाए भी परम्परा से मोक्ष हेतु के रूप मे जिन वाणी मे उपादेय वतायी गई है, पर वे साक्षात् मोक्ष-हेतु नही है, साक्षात् मोक्ष हेतु तो केवल ज्ञप्ति-क्रिया मूलक आत्मध्यान ही है। अतः जव तक आत्मध्यान की योग्यता न हो तव तक लक्ष्य पूर्वक मत्र-स्मरण, दर्शन-पूजन, सामायिक-प्रतिक्रमण आदि के रूप मे स्वाध्याय का सहारा लेना मुमुक्षु के लिये अनिवार्य है।

देश काल और परिस्थिति वश स्वाध्याय मूलक शुभ-क्रियाओ मे चाहे ऊपरी फरक भले ही हो पर यदि भीतरी आत्म-लक्ष मे फरक न हो तो वे सभी क्रियाये सम्यक् है, और यदि आत्म-लक्ष्य ही न हो तव तो वे ही सभी की सभी क्रियाये मिथ्या है, क्योकि आत्मलक्ष्य के पूरक

सभी क्रियाओ का फल केवल एक मोक्ष है जबकि आत्मलक्ष शून्य उन्ही क्रियाओ का फल पुण्य-पाप की अनेक धाराओ मे विभक्त होकर चारो गतियो मे परिभ्रमण करने वाला अनेक अन्त अर्थात् अनेक जन्म-मृत्यु मूलक होता है।

जो एक दूसरे गच्छवासियो को मिथ्यात्वी कह कर केवल बाह्य क्रियाओ के दुराग्रह वश परस्पर झगड़ते है वे कोरे क्रिया जड़ और व्यवहार से भी दृष्टि-अन्ध है क्योकि उनके पास अनेकान्त-लोचन अर्थात् स्याद्वाद-दृष्टि ही नही है, इसीलिए एक स्वर मे एकान्तिक राग आलापते हें कि हम ही विविध क्रियाये करके सम्यक् चारित्र की आराधना करते है—दूसरे नही, पर अनेक क्रियाओ के साथ ही जो अनेक शुभाशुभ भाव करते है उसके फ स्वरूप अनेक अन्त—अनेक जन्म-मृत्यु करने पडेगे—ये तो उनकी नजर मे ही नही आते—यही इस कलियुग की महिमा है। इसी तरह भूतकाल मे भी अनेकान्त दृष्टि को ठुकराकर अनेक ससार-फलो को उत्पन्न कराने वाली लक्ष्य शून्य अनेक क्रियाओ द्वारा अपने ललाट के लेख तैयार करके बेचारे अनेक क्रिया जड—चारो गतियो मे रुले है और भविष्य मे भी रुळते रहेगे।

३. वास्तव मे गच्छ का स्वरूप है—एकसी शिक्षा और दीक्षा विधि से मोक्ष मार्ग मे गमन करने वाले अनेक व्यक्तिओ का समूह। पात्रता-भेद के कारण अनेक गच्छ अनिवार्य है, जैसे कि श्री महावीर प्रभु के ग्यारह गणधरो के नव गच्छ। प्रत्येक गच्छवासी की सभ्यता है—विचार भेद होने पर भी लक्ष्य भेद का न होना, जैसा कि उक्त नव गच्छो मे वाचना-भेद था, किन्तु लक्ष्य भेद नही था, बाह्य आचार भेद होने पर भी प्रीति भेद का न होना, जैसा कि उक्त गणधर परम्परा मे बहुत से शिष्य वस्त्र रहित दिगम्बर रहते थे (आचाराग—८-७-२) तो कोई कटि वस्त्र—कोपीन मात्र भी रखते थे (आचारांग ८-७-१) एव कितनेक "एगे वत्थे एगे पाए" अर्थात् एक वस्त्र और एक पात्र

भी रखते थे, फिर भी परस्पर प्रीति-भेद नही था। यह प्रणाली दिगम्बर सम्प्रदाय में मुनि, एलक, और क्षुल्लक के रूप मे अब तक प्रचलित है पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय में नही रही। जिसका कारण निम्न प्रकार प्रतीत होता है—

जब बारह वर्षीय दुष्काल पड़ा तब द्वितीय श्री भद्रबाहु स्वामी श्रमण-सघ सहित दक्षिण देश मे जाकर विचरे। वहाँ देश, काल और परिस्थिति अनुकूल थी अतः मूल प्रणाली टिक सकी, जबकि इतर प्रदेशो मे प्रतिकूलता के कारण वह विच्छिन्न हो गई। काल क्रम से ज्यो-ज्यो लक्ष्य भेद होता गया, त्यो-त्यो प्रीति भेद भी बढता गया और सम्प्रदायवाद खड़ा हो गया, फलतः प्राचीन पद्धति वालो ने दिगम्बर और नयी पद्धति वालो ने श्वेताम्बर सम्प्रदाय कायम कर लिया। फिर तो क्रमशः दोनो सम्प्रदायो मे अनेक उपसम्प्रदाय बढाकर मतार्थियो ने जैन-शासन को चलनीवत छिद्रित कर दिया।

दिगम्बरत्व के आग्रह के कारण दिगम्बर सम्प्रदाय मे सयमोपकरणो की अधिकता की तो गुजाइश ही नही रही अतः मुनिदशा मे केवल पीछी-कमण्डलु और एलक-दशा मे पीछी-कमण्डलु एव कोपीन रखते है। ये दोनो ही पाणिपात्र हें। गृहस्थो द्वारा पडगाहे जाने पर मुनि खड़े-खड़े एव एलक बैठे-बैठे एक जगह ही प्रासुक आहार-जल ग्रहण करते है तथा क्षुल्लक दशावालो के लिये पीछी-कमण्डलु, एक धातु पात्र, एक झोली, चार हाथ प्रमाण तक की एक चादर और सात घरो से भिक्षा ग्रहण करके जहाँ प्रासुक जल मिल सकता हो उस घर में वैठ कर आहार-विधि समाप्त करने का विधान है। इन तीनो श्रेणी मे कम-से-कम ठाम चोविहार-एकासन की ही प्राणान्त तक प्रतिज्ञा है, जिसमे दुवारा औषध किंवा जल लेने का भी अपवाद नही है। जिसे सभी त्यागी अव तक निभा रहे हें। केवल, क्षुल्लक सात घरो की भिक्षा पद्धति छोड़ कर एक ही घर की भिक्षा ग्रहण करते हं

तथा कोपीन अधिक रखते है। एलक और क्षुल्लक, श्रावकों में एकादशवी प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक माने जाते है। ग्यारह प्रतिमा का क्रम इस सम्प्रदाय मे अब तक प्रचलित है। यहाँ आहार शुद्धि का अत्यधिक विवेक है।

देश काल और परिस्थिति वश क्षुल्लक पद्धति का विस्तार करके श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने स्थविरो, वृद्धो के लिये चौदह सयमोपकरण कायम किये जिसका उल्लेख वृहत्-कल्प ग्रन्थ मे निम्न प्रकार है.

१. रजोहरण २ सोलह अगुल प्रमाण वस्त्र-खण्ड की मुहपत्ती ३. एक हाथ भर के चौकोर वस्त्र का दुवडा या चौवड़ा चोलपट्टा-कोपीन ४. ५ ६ ढाई से चार हाथ तक लम्बी और ढाई हाथ चौड़ी दो सूती एव एक ऊनी चादर ७. ८ मिट्टी, काष्ठ किंवा तुम्वी का एक मात्रक-बड़ा पात्र और एक भोजन के लिये मध्यम प्रमाण से चालीस अगुल की परिधि वाला पात्र ९. पात्र बन्ध १०. पात्र-स्थापन ११ पात्र केशरिका १२. पडला १३, रजस्त्राण और १४. गोच्छक।

रजोहरण जीव रक्षा के लिये अनिवार्य होने से दिगम्बर सम्प्रदाय मे पक्षी-पिच्छो का प्रचलित था। जैसे कि गृद्ध-पिच्छ, मयूर-पिच्छ आदि, पर अब केवल मयूर-पिच्छ का ही प्रचलन है। यह पद्धति मूल गामिनी प्रतीत होती है क्योकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे भी योगोद्वहन द्वारा सूत्र-आराधना विधि मे मयूर पिच्छ का दडासन अनिवार्य बताया जाता है। मयूर-पिच्छ सर्वत्र सुलभ न होने से श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने रजोहरण-विधि निम्न प्रकार से अपनायी :

ऊनी कम्बल, उष्ट्र-कम्बल अथवा शण, मूंज किंवा वच्चक घास की बनी बोरी का बतीस अगुल लम्बा और अगुष्ठ-यव के ऊपर तर्जनी-नखाग्र के रखने पर बीच मे समा सके उतना चौड़ा खण्ड करके उसके नीचे से आठ या बारह अगुल प्रमाण आडे तन्तु निकाल करके बीस या चौबीस अगुल की दण्डी पर उसे लपेट लेना तथा तीन वन्धनो से

बाँधना—देखो वृहत्-कल्प। अव तो इसका 'ओघे' के रूप मे कैसा साज सजाया जाता है और वह कितना आगम सम्मत है—यह तो कोई विचारक ही जानते है।

वर्तमान मे क्या स्थविर! और क्या युवा! सभी श्वेत वस्त्रधारी उपरोक्त चौदह उपकरणो मे सख्या वढा कर किस सीमा तक पहुँचे है। और 'एग भत्त च भोयण'—दशवैकालिक अर्थात् केवल एक वक्त के भोजन-नियम को ठुकरा कर दिन भर मे न जाने कितने वक्त खाते-पीते हैं! जिसका कोई ठिकाना ही नही। एक सामान्य गृहस्थ को भी मात कर दे उतना तो एक-एक साधु का समाज पर वस्त्र-पात्र आदि के पीछे प्रतिवष खर्च है। केवल इन्ही के पात्रो के लिये ही प्रतिवर्ष सैकड़ो हरे पेडो की बलि चढाई जाती है। भ्रूण, बाल, युवा आदि भेड़ो की हत्या पूर्वक कसाईघर आदि की ऊन से बनी मँहगी कम्बल, ओघा, सथारिया एव कथंचित् पशु चर्वी से चलने वाली यत्रो से बनी मलमल आदि से सज-धज कर हमारे ये अहिंसा के पुजारी न जाने अहिंसा की कितनी शोभा वढा रहे है—यह तो वे ही जाने।

क्या दिगम्बर और क्या श्वेताम्बर। चाहे नंग-धडंग रहे, चाहे वस्त्र भडंग!! पर आत्म साक्षात्कार का रास्ता तो प्रायः सभी भूल चुके है, इसीलिए ये वीतराग के सुपुत्र 'सिद्धा पन्नरस भेया'—पन्द्रह भेद से सिद्धो का गान आलापते हुये भी केवल बाह्य क्रिया-काण्ड और वेष-भूषा के आग्रह वश बीस पन्थ, तारण पथ, गुमान पन्थ तेरह पन्थ तथा खरतर, अचल, तपा, पायचन्द, कँवला, लोका आदि गच्छ एवं स्थानकवासी, तेरहपथी मतभेद की आड़ में कोरे मतार्थी बन कर केवल राग, द्वेप, और अज्ञान का ही पोपण कर रहे है, फलतः संघ-शक्ति की छिन्न-भिन्नता, जैन शासन की उड्डाहना और स्व-पर के अकल को अपनी सगी आँखो देख रहे है, फिर भी वीतराग दर्शन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म तात्त्विक बाते बना कर व्याख्यान

धरा धर्जाते हुये इन ज्ञात-पुत्रों को जरा-सी भी शर्म नहीं आती। मत-ममत्वियो के मुख मे तो तत्त्व की बाते शोभा ही नही देती क्योकि मत-ममत्व और तत्त्व का परस्पर उतना ही विसवाद है जितना कि वृक्ष के कोटर मे अग्नि और फिर भी उसकी नवपल्लविता ! साधु-स्वाग, तप, त्याग, व्याख्यान-वाणी—ये तो केवल अपनी पेट-भराई और मान-बडाई आदि कार्य-सिद्धि के लिये ही इन लोगो ने अपना सरल तरीका बना रक्खा है और कुछ नही। हाय रे ! इस कलिकाल के अज्ञानानध राज्य मे मोह-महाराजा ने योगियो को नही छोडा—यह तो ठीक, पर योगियो को भी नख-शिख लपट-झपट लिया—यह कितने आश्चर्य की बात है ? इसीलिए तो ये बेचारे धर्म के नाम पर दुकानदारी चलाते हुये भी नही डरते। बारहवी शताब्दी के कितनेक मुनियो की हालत का दिगदशन कराते हुये आत्मज्ञ आचार्य श्री जिनदत्तसूरि जी लिखते है कि—

> "रद्ध तत्थ कुणंता, रद्ध त सव्वहा न पेच्छति ।
> लग्गति सावयाण, मग्गे भक्खत्थिणो एगे ॥१०॥
>
> (उपदेश कुलकम्)

कितने ही मुनि लोग शास्त्र-सिद्धान्तो के अर्थ-विवेचन को करते हुए भी अपने प्रयोजन हेतु सिद्धान्त को तो बिलकुल देखते तक नही है अर्थात् सिद्धान्त-विरुद्ध मनचाहा वर्तावकरते हे और केवल पेट-भराई के लिये ही दिनरात श्रावकोचित (गृहस्थोचित) मार्ग मे लगे रहते है"—इस दशा से भी आधुनिक मुनि बहुत आगे बढ चुके है, क्योकि घट मे अन्धेरा होने से इन्हे श्रावकोचित देशतः भी आत्मलक्ष नही है।

परमार्थ-दृष्टि से यदि देखा जाय तो चेतन-सृष्टि तीन गच्छो मे विभक्त है—(१) परमात्म-गच्छ (२) अन्तरात्म-गच्छ और (३) वहिरात्म-गच्छ। जिनकी दृष्टि अखण्ड और स्थायी-रूप में द्रष्टा से अभिन्न हो चुकी है वे सयोगी-केवली, अयोगी-केवली और

सिद्ध केवली सभी परमात्म गच्छीय है, वे परमगुरु मुमुक्षुओं के आराध्य सुदेव है। प्रतीति, लक्ष किंवा अनुभूति-धारा से जिनकी दृष्टि द्रष्टा मे रम रही है किन्तु अभिन्न नही हो पायी वे चौथे गुणस्थान से लगाकर बारहवे गुणस्थान पर्यन्त की आत्मदशा वाले सभी अन्तरात्म-गच्छीय है, जिनेन्द्रदेव ने मोक्ष-मार्गारूढ के रूप में इसी गच्छ की ही सराहना को है। इसमे छठे से बारहवे गुणस्थान-स्थित सभी मध्यम गुरु सुगुरु के रूप में मुमुक्षुओ के उपासनीय है। उनके अभाव मे चौथे-पाँचवे गुणस्थान-स्थित जघन्य-गुरु भी मुमुक्षुओ की अन्तर्दृष्टि खोलने में समर्थ है। ये अन्तर्दृष्टि वाले ही सच्चे जैन है। जिनकी दृष्टि द्रष्टा को देखने मे समर्थ ही नही है अतः केवल दृश्याकार मे ही भटक रही है वे सभी बहिरात्म-गच्छीय है, फिर चाहे वे दिगम्बर हो किंवा श्वेताम्बर, पर उनका तीर्थङ्करो के मार्ग मे प्रवेश तक नही है अतः उनका परिचय भी मुमुक्षुओ के लिये हेय है।

४. विश्व में कुगुरुओ का सग ही सबसे बडा असत्सग है, क्योकि वहाँ परमार्थ के नाम पर ठगाई होती है। अन्तर्दृष्टि के न खुलने पर भी जो गुरु-पद अगीकार करके शिष्यो के मार्ग-दर्शक बनते है वे कुगुरु है। वे मार्ग का जो भी दिग्-दर्शन कराते है—वह सब कोरा कल्पना-जाल है, क्योकि उन्हे मार्ग का साक्षात् अनुभव नही है। अनुभव-शून्य कथन तो अन्य-नय-निरपेक्ष केवल एकान्तिक होता है। जहाँ दूसरे नयो का अपलाप है वहाँ मताग्रह का होना स्वाभाविक है। जहाँ मताग्रह है वहाँ झगड़ालु-वृत्ति है। जहाँ झगड़ालु-वृत्ति है वहाँ राग-द्वेष-अज्ञान-रूप त्रिदोष-सन्निपात है। जहाँ सन्निपात दशा है वही सद्विचार और सदाचार दोनो व्यापार ठीक नही हो सकते—यह बात न्याय-सिद्ध है अतः ज्ञानियो ने उक्त व्यापार को मिथ्या-व्यवहार कहा है।

विश्व में जीवन का सार सत्सग है। सद्गुरु का सग सत्सग कहलाता है। जिनकी अन्तर्दृष्टि अखण्ड आत्म-लक्ष पूर्वक है वे ही

सद्गुरु है। वे जो भी मार्ग-दर्शन कराते है—सब सही है, काल्पनिक नही क्योकि उन्हे मार्ग का साक्षात् अनुभव है। अनुभवियो का कथन अन्य-नय-साक्षेप, सर्वांगीण अनेकान्तिक होता है। जहाँ दूसरे नयो का अपलाप नही है वहाँ मताग्रह, झगड़ालु-वृत्ति और राग-द्वेष-अज्ञान-रूप त्रिदोष सन्निपात नही है। जहाँ सन्निपात रहित स्वस्थ समरस दशा है वहाँ सद्विचार और सदाचार दोनो व्यापार बिल्कुल ठीक होते है अतः उक्त व्यापार को ज्ञानियो ने सम्यक्-व्यवहार कहा है, और इसी का फल मोक्ष है।

निरपेक्षवाद प्रधान मिथ्या-व्यवहार-जनित त्रिदोष-सन्निपात का फल तो तत्काल भाव मृत्यु और परम्परा से पुनर्जन्म-सन्तति-रूप ससार ही है, अतः यदि आत्म कल्याण चाहते हो तो सन्निपातियो का बकवास मत सुनो। यदि सुनने मे आ गया हो तो उसे सही मत मानो और न तदनुरूप आचरण बनाओ। येन-केन प्रकारेण यदि उनकी बातो मे आकर आचरण-चक्र मे फँस गये हो तो उससे उदासीन हो जाओ, क्योकि जो केवल नीरस और निःसार है उसमे अनुरक्त क्यो होना ?

५ यदि नीरस और निस्सार असद्गुरु एव उनके बताये हुये अन्ध-मार्ग मे ही अनुरक्त रहोगे, तो भला ! अठारह दोषो से परि-मुक्त देह-देवल-स्थित केवल चैतन्यमूर्ति-रूप शुद्धदेवतत्व, अखण्ड आत्म-लक्ष्य वाले द्रव्य-भाव निर्ग्रन्थ-रूप शुद्धगुरुतत्त्व और मोह-क्षोभ रहित आत्म-परिणाम-रूप शुद्ध धर्मतत्त्व की वास्तविक पहचान किस तरह कर सकोगे ? क्योकि असद्गुरु को इन तीनो ही तत्त्वो का साक्षात्कार तो है नही। और तत्त्व-त्रयी की वास्तविक पहचान के बिना पार-मार्थिक शुद्ध स्वतत्त्व को अनुभव-गोचर करने वाले सम्यक्-श्रद्धा-प्रयोग को प्राप्त करने का अवसर भी किस तरह हाथ लगेगा ?

भूतकाल मे इस जीव ने बहुत-से जन्मो मे देव और धर्म की आराधना की एव अब तक करता चला आ रहा है, पर सद्गुरु के

निश्चय और आश्रय के बिना देव, धर्म एवं तत्तुल्य स्वात्मा के वास्तविक स्वरूप की समझ तथा दिल के दीपक को सुलगाने वाला सम्यक्-श्रद्धा-प्रयोग हाथ न लगने से, वह सारा परिश्रम निष्फल ही सिद्ध हुआ, अत. मुमुक्षुओ के लिये सद्गुरु का निश्चय और आश्रय नितान्त आवश्यक है।

श्रद्धा शब्द का रहस्य निम्न प्रकार है :—

श्रत्+धा+अङ्+टाप्=श्रद्धा। 'श्रत्' उपसर्ग पूर्वक 'धा' धातु से श्रद्धा शब्द बना है। श्रि+इति=श्रत् अर्थात् फैली हुई चैतन्य रोशनी का धा-धारण और पोषण करना। मतलब कि देखना और जानना—यह चेतन का स्वभाव है अत देखने-जानने के लिये चेतना-टार्च का मन-रूप स्वीच दबाकर चैतन्य प्रकाश को फैलाना और कार्य समाप्ति पर्यन्त उसे धारण-पोषण किये रहना, चेतन के इस प्रयोग को सस्कृत-भाषा-भाषियो ने श्रद्धा शब्द से पुकारा। यह श्रद्धा प्रयोग दो प्रकार का होता है—एक मिथ्या और दूसरा सम्यक्। जबकि द्रष्टा को भूल कर केवल शरीर आदि पर दृश्य-प्रपच को ही देखने जानने के लिये यह प्रयोग किया जाता है तब यह चैतन्य-प्रकाश और पर दृश्य-प्रपच दोनो के मिथ-पारस्परिक सम्पर्क पूर्वक बहिर्मुख होता है अतः उस हालत में इसे मिथ्या-श्रद्धा कहते है, एव जब केवल द्रष्टा को ही देखने-जानने के लिये यह प्रयोग किया जाता है तब बहिर्मुख फैली हुई चैतन्य रोशनी को अन्तर्मुख समाना अनिवार्य हो जाता है, अतः सम्यक् चैतन्य-प्रकाश को द्रष्टा की ओर अच्छी तरह समा कर किये जाने वाले इस प्रयोग को सम्यक्-श्रद्धा कहते हैं। यहाँ दूसरे किसी के साथ सम्पर्क तो है नही क्योकि चेतन और चैतन्य-प्रकाश, सूर्य-विम्ब और सूर्य-प्रकाशवत् अभिन्न एक है अतः मिथ्या शब्द का यहाँ काम नही है।

जो लोग "ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या" इस सूक्त से जड़-सृष्टि का समूचा अभाव और केवल अद्वैत-ब्रह्म का ही सद्भाव मानते है—यह उनका कोरा भ्रम है, ब्रह्म नही, उन्हे ब्रह्म-शब्द के रहस्यार्थ की गम ही नही है। एव जो लोग सुदेव, सुगुरु और सुधर्म की दुहाई देकर भी

अपने चैतन्य-प्रकाश को द्रष्टाकार नही समा पाये अतः द्रष्टा के विस्मरण पूर्वक ही अपनी दृष्टि को दृश्याकार भटका रहे है, वे चाहे अपने आपको सम्यक्त्वी और दूसरो को मिथ्यात्वी भले मान ल पर है खुद ही सरासर मिथ्यात्वी, क्योकि उन्हे सम्यक्-दशा ही नही है। वास्तव मे मान्यता का कोई फल नही है पर दशा का फल है। सुदेव, सुगुरु और सुधर्म तो सम्यक्-श्रद्धा के प्रयोग मे निमित्त-मात्र आदर्श है। साधकीय जीवन मे उनका निश्चय और आश्रय ग्रहण करके यदि उन्हे निमित्त-कारणता का मौका दिया जाय तो अपनी उपादान-शक्ति को व्यक्त होने की भी कारणता सघ जाय, फलतः सम्यक्-श्रद्धा-प्रयोग-रूप कर्य सिद्ध हो जाय। सम्यक्-श्रद्धा-प्रयोग हस्तगत हो जाने पर विश्व-प्रपच मे से जो भी देखना हो वह सब चैतन्य-दपण मे स्वतः ही झलकता है, बहिर्मुक देखने की कोई आवश्यकता नही। इसी लिये जिन-वाणी मे बताया गया है कि "एग जाणई से सत्व जाणइ" अर्थात् जो एक को जानता है वह सब को जानता है—यह कोरा युक्तिवाद नही अपितु अनुभव-इशारा है, अतः मिथ्या-श्रद्धा-प्रयोग द्वारा आत्म-शक्ति का व्यर्थ ही अपव्यय करना मुमुक्षुओ के लिये उचित ही नही है।

प्रियजन ! यदि आत्म-साक्षात्कार करना चाहते हो तो शुद्ध-श्रद्धान अर्थात् श्रद्धा के सम्यक् प्रयोग को अपनाओ। इसके बिना की जाने वाली समस्त धार्मिक-क्रियाये क्षार-भूमि के उपर किये हुये गोबर मिट्टी के लिम्पन तुल्य अर्थ-हीन है, क्योकि लक्ष्य-शून्य क्रियाओ से लक्ष-वेध-तमोग्रन्थि का भेदन और आत्म-साक्षात्कार नही हो सकता—इस तथ्य को ठीक समझो, और असद्गुरु की निश्रा मे क्रियान्ध बन कर 'अप्पाणं वोसिरामि' अर्थात् समूची आत्मा को ही मत विसर्जन करो किन्तु आत्मा मे से देहात्म-बुद्धि का परित्याग करो। जिनवाणी मे स्पष्ट-रूप से बताया गया है कि "हय नाण किया होण, हया अन्नाणिणो किया।" अर्थात् ज्ञप्ति-क्रिया विहीन शुष्क-ज्ञानियो का ज्ञान भी

निरर्थक है एव अज्ञानी क्रिया जड़ो की स्वरूपानुसन्धान विहीन करोति-क्रिया भी निरर्थक है—इस तथ्य को ध्यान मे लो।

६. साधु जीवन की सार्थकता आत्म-रमणता-रूप शुद्ध चारित्र पर ही निर्भर है। लक्ष को सवथा आत्माकार विरति पूर्वक ही शुद्ध चारित्र की आराधना हो सकती है। आत्म लक्ष की अखण्ड-धारा प्रगटाने के लिये दिगम्बर साहित्य में ग्यारह श्रावक-प्रतिमाओ का विधान और तदनुसार आराधन-क्रम का प्रचार उस सम्प्रदाय मे तो प्रचलित है ही, पर श्वेताम्बर साहित्य उपासकदशाग आदि सूत्रो मे भी श्रावको की ग्यारह प्रतिमाओ का व्यवस्थित आराधन-क्रम बताया गया है, जिस क्रम मे पूर्व-पूर्व प्रतिमाओ के प्रतिपालन पूर्वक ही उत्तरोत्तर प्रतिमाओ मे प्रवेश होता है। तदनुसार सर्वप्रथम एक मास तक योग-उपधान विधि से परमेष्ठी-मत्र आदि की सिद्धि द्वारा आत्म-साक्षात्कार-रूप दर्शन-प्रतिमा (१) की आराधना की जाती है; क्योकि आत्म-दर्शन के बिना आत्म-लक्ष जम नही सकता। आत्म-साक्षात्कार तक का अनुभव-क्रम श्री सुविधिनाथ-स्तवन मे पूजन रहस्य द्वारा सक्षेपतः बता दिया है। आत्म-द्रष्टा को स्वरूपानुसन्धान के लिये समाहित-चित्त और निवृति काल अनिवार्य है अतः पॉच अणुव्रत, तीन अणुव्रत और चार शिक्षाव्रत-रूप व्रत-प्रतिमा (२) की आराधना भी अनिवार्य हो जाती है। दो माह तक के अभ्यास से निरतिचार व्रत-पालन सिद्ध हो जाने पर आत्म लक्ष से साधक को जो आत्मतुष्टी मिलती है उससे उसे अधिकाधिक निवृत्ति आवश्यक हो जाती है अतः वह त्रि-सन्ध्या-सामायिक प्रतिमा (३) को नित्य, नियमित और निरतिचार आराधना करता है। तीन माह तक के अभ्यास से जबकि निवृत्ति-काल मे अहोरात्र स्वरूपानुसन्धान टिकाने की योग्यता सध जाय तब अष्टमी, चतुदशी, पूर्णिमा और अमावस्या—इन पर्व दिवसो मे उपवास-पूर्वक अहोरात्र आत्मलक्ष के प्रकृष्ट औषध-रूप पौषध-प्रतिमा (४) की निरतिचार आराधना करता है। चार माह तक के

इस अभ्यास से चार प्रहर तक एक ही आसन मे बैठने की योग्यता आ जाने पर पर्व तिथियो मे पौषध के साथ रात्रिभर कायोत्सर्ग-प्रतिमा (५) पूर्वक आत्म लक्ष की आराधना करता है। यहाँ साधक के रात्रि-भर भजन की ही विशेषता है, रात्रि-भोजन त्याग की नही क्योंकि वह त्याग तो व्रत प्रतिमा मे ही हो चुका है। और दिवा-मैथुन तो मानवता से भी बाहर है अतः उसका साधकीय जीवन मे प्रथमतः निषेध ही है। पाँच माह तक पाँचमी प्रतिमा को निरतिचार आराधना द्वारा बढे हुये ब्रह्मानन्द से विषयानन्द स्वतः छूट जाता है। अतः साधक आजीवन ब्रह्मचर्य प्रतिमा (६) अगीकार करता है। छह माह तक निरतिचार ब्रह्मचर्य पूर्वक पूर्वोक्त आराधना से छकी-सी आत्मदशा मे उस साधक का हृदय उत्तरोत्तर इतना कोमल बन जाता है कि वह आगे की प्रतिमाओ मे पूर्वोक्त साधन-क्रम द्वारा ही उत्तरोत्तर निवृत्ति बढाकर निम्न प्रकार को अखण्ड आत्म लक्ष की बाधक शेष वृत्तियो को परिक्षीण करता हुआ स्वरूपानुसन्धान की विशेषता एव दृढता सिद्ध करता जाता है ब्रह्मचर्य-निष्ठा के कारण उसे घट-घट मे ब्रह्म-स्वरूप विशेषतः स्पष्ट दिखाई देता है अत उसे सचित्त खान-पान मे बड़ा आघात पहुँचता है, फलतः वह आजोवन सचित्त-आहार त्याग प्रतिमा (७) अगीकार कर लेता है। सात माह तक इस प्रतिज्ञा के निरतिचार प्रतिपालन से बढी हुई कोमलता वश वह अपने हाथो आरम्भ कर नही सकता अत वह स्वय-आरम्भ-वर्जन-प्रतिमा (८) धारण करके उसके निरतिचार प्रयोग द्वारा आठ माह मे उस वृत्ति का अन्त कर लेता है। अब दूसरो के हाथो आरम्भ कराने की भी वृत्ति नही उठती अतः परिग्रह-जाल भी अखरता है फलतः वह आरम्भ कराने का एव परिमित सयमोपकरण के अतिरिक्त अतिरिक्त समस्त परिग्रह का आजीवन सर्वथा परित्याग कर देता है। नव माह तक इस नवमी प्रतिमा के प्रतिपालन से उसके हृदय की कोमलता

तो पराकाष्टा पर पहुँच जाती है अत वह आरम्भ-परिग्रह की अनु-मति देने मे ही अपने आप को असमथ पाता है जब कि पारिवारिक, मित्र आदि सलाह के लिये बार-बार तग करते है तब उसे गृहवास भी अखरता है फलतः वह साधक आरम्भ-परिग्रह की अनुमति का भी परित्याग (१०) कर लेता है। फिर वह गृहवास से निवृत होकर सद्गुरू-चरणो मे किवा उनका सहयोग न मिलने पर पौषध-शाला, उपवन आदि विविक्त स्थानो मे निवास करता है। उद्दिष्ट-आहार-त्याग न होने से आमन्त्रण मिलने पर गृहस्थ के घर एक बार भोजन कर लेता है। अनुमति-वृत्ति अत्यन्त सूक्ष्म होती है अतः दश माह तक के निरतिचार अभ्यास से उस पर सम्पूण विजय पाकर श्रमण-तुल्य-प्रतिमा (११) अपनाता है। अब उद्दिष्ट खानपान का भी परित्याग करके वह ठाम-चौविहार भिक्षान्न-भोजी, एक वस्त्र और एक पात्र धारी साढ़े पाँच माह तक शीत आदि परिपह सह कर फिर केवल कटिवस्त्र-कोपीन धारण करता है। श्रमण तुल्य इस दशा मे फिर साढे पाँच माह तक अचेलकत्व और पाणि-पात्र की क्षमता प्राप्त करता हुआ प्रवृत्ति-चक्र मे सर्वत्र आत्मलक्ष की अखण्डता पर सर्वथा अधिकार पा लेता है। इस तरह साधक साढे पाँच साल तक के अदम्य साहस और अथक पुरुषार्थ से लक्ष की सवथा आत्नाकार विरति की सिद्धि करके सद्गुरु कृपा से सर्व-विरतिधर सच्चा साधु बनता है।

सर्व-विरति दशा में वह प्रधानतः सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-ज्ञान-धारा को स्वरूप-गुप्त करके अखण्ड आत्मरमणता द्वारा अपने आत्म-वैभव से महा प्रतापवान और अप्रमत्त रह कर शेष घाती-कर्म-मल का परिशोधन करता रहता है; तथा गौणतः आत्म-लक्ष की अखण्डता पूर्वक समितिवान रह कर विश्व हित करता है। यह जैन-साधु, साधुदशा के क्षमा आदि दशविध यतिधर्म और अचेलक आदि दशविध यति-आचार का निरतिचार प्रतिपालन करता हुआ स्व-पर निस्तारक होता है।

क्षमाश्रमणो के लिये जिनागम मे बतायी हुई सव-विरति पद पर पहुँचाने वाली यह सर्व-विरति की भूमिका-रूप श्रमणोपासकीय ग्यारह-प्रतिमा श्रेणी को विच्छेद बता कर आत्म-साक्षात्कार और आत्म लक्ष के बिना ही स्वय श्रमण-पद पर आरुढ हो ज़ाना एव तद्वत् दूसरो को भी आरूढ करना—यही हु डा-अवसर्पिणी काल का असयती-पूजा नामक अच्छेरा-आश्चर्य है, क्योकि सीढियो को पार किये बिना ही उपरितन मजिल पर चढ़ जाने तुल्य ही यह कोरा दुस्साहस है। सर्वविरति की पूर्व-भूमिका का ही यदि वर्तमान मे विच्छेद है, तो भला ! सर्व-विरति पद का अविच्छेद कैसे सिद्ध हो सकता है ? पर कलिकाल के अन्धाधुन्ध साम्राज्य मे जितनी भी उत्सूत्र-प्ररूपणा हो उतनी ही कम है।

अचेलक शब्द का अर्थ तो (न+चेल—अचेलः, अचेल एव अचेलक) वस्त्र का न होना ही सिद्ध है—यह तो सामान्य शिक्षित भी जानता है, फिर भी उस असली अर्थ को मरोड कर उसे जीर्ण, मानो-पेत और स्वेत-वस्त्र के रूप मे बदल देना, किस घर का न्याय है ? यदि अचेलक रहने की क्षमता न हो तो अपनी शक्ति अनुसार निचली भूमिकाओ पर रहने में क्या आपत्ति है ? उत्सूत्र प्ररूपणा और आचरणा द्वारा व्यर्थ ही भव-भ्रमण बढाने मे क्या लाभ है ? जिनागम मे तो प्रकट-रूप से घोषित किया गया है कि—

'विश्व मे उत्सूत्र-भाषण तुल्य दूसरा कोई महापाप नही है और जिन-कथित वीतराग-धर्म तुल्य दूसरा कोई पारमार्थिक सर्वोत्कृष्ट धर्म नही है।' जिनागमसूत्रो में बताया गया है कि मोक्ष, क्रियमाण-कर्मो का सवर और कृत-कर्मो की निर्जरा पूर्वक ही हो सकता है, अंतः रत्नत्रय रूप मोक्ष-मार्ग भी सवर-निर्जरात्मक अबन्ध-आत्म-परिणाम स्वरूप ही है फलतः सम्यक् चारित्र क्रिया भी सवर-क्रिया-स्वरूप प्रसिद्ध है। सूत्रानुसार यह सम्यक् क्रिया जो भी उत्तम महात्मा करते हो, केवल उन्ही का चारित्र ही शुद्ध समझो। शुभाशुभ उपयोग से जो सतत आश्रव-क्रिया मे ही रम रहे हो उन का चारित्र मोक्ष-

मार्गोचित शुद्ध नही है—वह तो मिथ्या चारित्र है। उसी से ही ससार पनप रहा है, अतः यदि सद्गुरु के शरण को खोज रहे हो तो सर्व प्रथम सूत्र की कसौटी से कस कर गुरु की परीक्षा करो। केवल गड़-रिया-प्रवाह मे मत बहो।

७. सुज्ञ! चारित्र-विषयक यह ज्ञानियो के सदुपदेश का सक्षिप्त सार है। हस-चञ्चु-न्यायवत् जो भी आत्मार्थी-मनुष्य इस बोधामृत के पान से अपने चित्त को प्रतिदिन सतत प्रभावित रखते हुए शुद्ध चारित्र मार्ग मे समुद्यत रहेगे, उन महामानवो को अधिक से अधिक केवल सवा साल मे ही अनुत्तर-विमान-वासी देवो के सुख को लाघ कर अनुपम सिद्ध-सुख का साक्षात् अनुभव होगा—इसमे जरा भी सन्देह नही। दिव्य-ध्वनि, दिव्य-दर्शन, दिव्य-सुगन्ध, दिव्य-रस और दिव्य-स्पर्श तो उन्हे आत्म-साक्षात्कार के पूर्व ही अनुभव पथ मे आजायेगे, पर उनमे अटकना मुमुक्षुओ को उचित नही। काल दोष वश यदि स्वरूपाचरण में पुरुषार्थ-मन्दता रहे, तो कोई आश्चर्य नही पर इस अभ्यास के प्रताप से यदि देवायु बँध गया तो इस देह-पर्याय के पश्चात् इन्द्र-अहमिन्द्र पद पर विश्राम लेकर वहाँ से अथवा सीधा तीर्थङ्कर भूमि मे पुनः महामानव बन कर सुदीर्घ काल तक दिव्य-सुखो का अनुभव करके वे पुनः चारित्र-श्रेणी पर आरूढ़ हो जायेगे। और घाती-अघाती को समूल-घात द्वारा उसी पर्याय मे भवान्त करके वे पुष्ट ज्ञानानन्द-स्वरुप अखण्ड स्थिर सिद्ध-साम्राज्य को पाकर कृत कृत्य हो जायेगे—यह सुनिश्चित है।

प्रचारक—अहो! आपने अपना अनन्य-शरण-दान और अमुल्य बोधामृत पान कराकर हम पामरो पर वह उपकार किया है जिसका कि बदला ही चुकाया जा न सके। हमे विश्वास हो चुका है कि आपकी कृपा से अब हमे मोक्ष हथेली में है, क्योकि हमारे लिये तो आप ही प्रत्यक्ष मोक्ष-स्वरुप है। आपके मिलने पर हमे तो सब कुछ मिल गया।

श्री धर्म जिन स्तवन

(राग गौडी सारंग रसियानी देशी)

धरम जिनेसर गाऊँ रंग सूं, भंग म पडज्यो हो प्रीत ।
बीजो मन मन्दिर आणं नहीं, ए अम्ह कुलवट रीत ।। धरम० ।।१।।

धरम धरम करतो जग सहु फिरे, धरम न जाणे हो मर्म ।
धरम जिनेसर चरण ग्रह्यॉ पछी, कोइ न बंधे हो कर्म ।। धरम० ।।२।।

प्रवचन अंजन जो सद्गुरु करै, देखे परम निधान ।
हृदय नयन निहालै जग धणी, महिमा मेरु समान ।। धरम० ।।३।।

दोडत दोडत दोडत दौडियो, जेती मननी हो दौड ।
प्रेम प्रतीति विचारो ढूकडी, गुरुगम लीजो हो जोड ।। धरम० ।।४।।

एक पखी किम प्रीत बरै पड़े, उभय मिल्या होय संधि ।
हूँ रागी हूँ मोहे फंदियो, तू नीरागी निरबंधि ।। धरम० ।।५।।

परम निधान प्रगट मुख आगलै, जगत उलंघी हो जाय ।
ज्योति बिना जोवो जगदीसनी, आंधो अंध पुलाय ।। धरम० ।।६।।

निरमल गुणमणि रोहण भूधरा, मुनिजन मानस हंस ।
धन ते नगरी धन बेला घड़ी, मात पिता कुलवंस ।। धरम० ।।७।।

मन मधुकर वर कर जोडी कहै, पद-कज निकट निवास ।
घन नामी 'आनन्दघन' सांभलो, ए सेवक अरदास ।। धरम० ।।८।।

१५. श्री धर्मनाथ-स्तवनम्

धर्म का मर्म :

एक स्वरूप-जिज्ञासु वास्तविक-धर्म की खोज मे यत्र-तत्र भटकता हुआ सन्त आनन्दघनजी के सानिध्य मे उपस्थित हुआ और बाबा की अवधूत आत्मदशा का दर्शन पाकर बहुत प्रभावित हुआ। उसे विश्वास हो गया कि मेरे दिल की दुविधा यही मिट सकेगी। अतः बड़ी श्रद्धा से विनयान्वित होकर उसने बाबाजी से निवेदन किया कि:—

भगवन्! मैं आत्म-कल्याण की कामना वश सुदीर्घ काल से धर्म की खोज मे सर्वत्र भटक रहा हूँ। मैने बहुत से धर्म-सम्प्रदायो का परिचय किया, अनेक गुरुजनो से मिला और उनके उपदेश और सिद्धान्त-साहित्य पर भी यथाशक्ति मनन किया पर अबतक मुझे कही से भी धार्मिक सन्तोष नही मिला। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो की भिन्न-भिन्न धार्मिक-प्ररूपणा सुनकर मै तो हैरान हो गया कि 'विश्व में सच्चा धर्म और सच्चा-देव कौनसा? किस ढंग से प्रभु-भक्ति करने पर धर्म का साक्षात्कार हो सकता है? कि जिस धर्म से हम कर्म-बन्धन से शीघ्र छूट कर भव-पार हो जायँ।

१ सन्त आनन्दघन—भैया! धर्म कोई बाजारू-चीज थोड़ी है! कि जो बाहर ढूँढने पर कही से मिल जाय। वह तो आत्मीय चैतन्य-खजाने का अनुपम परम-धन है, कि जिसकी अनुभूति, मोह-क्षोभ रहित केवल चैतन्य के वीतराग शुद्ध परिणमन-स्वरूप आत्मदर्शन, आत्मज्ञान और आत्मस्थिरता द्वारा ही सम्भव है। मोह-क्षोभ को जीतने पर ही उसकी उपलब्धि हो सकती है अतः उसे 'जिन' विशेषण लगाया जाता है। दूसरे चाहे लाख प्रयत्न कर ले, पर मोह-क्षोभ को जीतकर जिन हुये बिना धर्म का स्वरूप हाथ नही आता। जिन्होंने जिन होकर अपनी आत्मा मे धर्म का साक्षात्कार कर लिया, उन्होने सम्पूर्ण आत्म-ऐश्वर्य पा लिया। उस सहजात्म-स्वरूप दशा मे 'जिनेश्वर' सज्ञा देकर

सन्त-जन उन्हें अपना उपास्य देव बनाते है, पर वे 'परमगुरु' कर्तृत्व-अभिमान-शून्य, गुरु-शिष्य के व्यवहार से उदासीन और नाम रूप से परे हैं। फिर भी कमाल है ! कि जिन नाम-रूप से भजते, उस नाम-रूप मे ही उनके दर्शन होते हैं, यावत् उनको भजने वाला उन जैसा ही बन जाता है।

यदि तुम्हे धर्म का साक्षात्कार करना है तो निष्काम हृदय से एकमात्र इन्ही धर्म-जिनेश्वर को एक निष्ठा से भजो और सब झझट तजो। अपने पास जो भी प्रेमधन है, वह सारा एकत्रित करके इन्ही के चरणो मे चढा दो कि जिसे तुम कामराग, स्नेहराग और दृष्टि-राग-रूप त्रिवेणी-प्रवाह से व्यर्थ ही बाहर बहा रहे हो। अपने मन-मन्दिर मे अब तो बस, एक इन्ही धर्म-मूर्ति को हो प्रियतम के रूप मे प्रतिष्ठित कर लो और 'तन-मन एक ही रग' से चुपचाप इन्ही की भक्ति किया करो। यदि चुप न रहा जाय तो वाणी को इन्ही के गुणग्राम मे लगा दो और जिन-चरणो के प्रति बहते हुये प्रेम-प्रवाह को सर्वथा अभग रखो। किसी भी देश, काल और परिस्थिति से उस प्रेम-प्रवाह के प्रवहन मे भग न पड़ जाय—इसके लिए पूर्णतः सावधान रहो। मैं विश्वास दिलाता हूँ कि इन्ही की भक्ति से तुम्हे अवश्य धर्म का साक्षात्कार होगा, क्योकि मुझे भी जो कुछ अनुभव हुआ और हो रहा है—वह सब केवल इन्ही की कृपा का प्रसाद है, अतः प्रियतम के रूप मे इन्हे छोड़कर और किसी भी रागी-द्वेषी देव को मै अपने मन मन्दिर मे फटकने तक नही देता। अजी ! मैं तो क्या ? हमारे सारे ही स्याद्वादी-खानदान का एक यही गौरव-भरा स्वभाव है कि आराध्य के रूप मे वीतराग देव के सिवाय दूसरे किसी को भी अपने हृदय मे स्थान न देना। हाँ सतीवत् प्रियतम के सम्बन्धियो के नाते सभी से मिलजुल कर रहने मे एव उनके साथ उचित शिष्टाचार रखने मे हमे कोई आपत्ति नही है, क्योकि शिष्टाचार का त्याग ही मानवता का त्याग है।

मानवता को खो देने पर ही धर्म-विद्वेष फैलकर साधकीय हृदय को कलुषित बनाता है यावत् साधना के भी उचित नही रहता, अत. परमतसहिष्णुता एव शिष्टाचार की साधकीय जीवन में अनिवार्यता है क्योकि सारा विश्व प्रियतम का ही परिवार है और परिवार का बहुमान ही प्रियतम का वहुमान है।

२. अरे बावरे! धर्म-धर्म रटते हुए जगह-जगह धर्म प्राप्ति का उपाय क्यो पूछ रहे हो ? क्योकि सम्प्रदायों के गुरुओ के पास सर्वत्र कोरी साम्प्रदायिकता रह गई है, धर्म नही रहा। उन्होने तो साम्प्रदायिक-अभिनिवेश वश धर्म के मर्म को ही भुला दिया है। तब भला! वे बेचारे सम्प्रदाय-भाराक्रान्त गुरुभारवाही गुरु तुम्हे धर्म के मर्म को कहां से लाकर देगे ? शास्त्रो मे भी धर्म का मार्ग बताया गया है, मर्म नही, क्योकि धर्म का मर्म तो केवल धर्ममूर्ति सत्पुरुषों के हृदय मे ही रहा करता है, जिन्हे कि धर्म का साक्षात्कार हो चुका है, अन्यत्र नही।

अजी! साधक के लिए धर्म दुर्लभ नही प्रत्युत धर्म का मर्म ही दुर्लभ है क्योकि धर्म-मर्म को प्रदान करने वाले धर्म-मर्मज्ञों की ही विश्व में सदा स्वल्पता चली आ रही है। पुण्यानुवन्धी पुण्य के प्रकृष्ट उदय मे यदि धर्म-मर्मज्ञ और धर्म का मर्म हाथ लग जाय और तद्नुसार यदि भगवान धर्म-जिनेश्वर का चरण-शरण मिल जाय तो उनका कोई भी सेवक नूतन कर्म-वन्धन से आवद्ध नही होता, क्योकि नूतन कर्म वन्धन का कारण तो शुभाशुभ कल्पना जाल है। जवकि उस जाल की प्रथमत वलि चढ़ाये विना जिन-चरणो का शरण ही नही मिलता अर्थात् जिन-चरण को अपना लेना यही जिन-चरण-शरण पाना है। जिन-अनुयायी निज आचरण मे भी शुभाशुभ कल्पना को स्थान ही नही देते। फलतः जिन-शरणागत सहज ही में निजधर्म ऐश्वर्य प्रकटा कर पूर्व कर्मवन्धन से मुक्त—भवपार हो जाता है। इसीलिए साध-

कीय जीवन मे धर्मका मर्म और उसके लिये धर्म मर्मज्ञ की भी शरण नितान्त आवश्यक है, और आवश्यक है अपनी सत्पात्रता को भी अपने जीवन मे विकसित करना ।

३. परिग्रह-प्रेम, स्व-दोष छिपाने की वृत्ति, स्वच्छन्दता और असत्सग रुचि का शत्रुवत् परित्याग करके शिष्य जब हृदय-नेत्र वाले प्रत्यक्ष-सद्गुरु के चरणो में अनन्य शरण होकर उनकी आज्ञा-सेवा में एकनिष्ठ हो जाता है एवं जब उसकी सत्सेवा-परायणता पर सद्गुरु की कृपा-नजर उतरती है तब तो वे परम कृपालु निष्कारण-करुणा वश स्वतः ही अपनी योग-शक्ति-रूप शलाका से प्रवचन-अजन करके शिष्य की अन्तर्चक्षु का उन्मीलन करते हैं अर्थात् स्वानुभूति-क्रम का रहस्य व्यक्त करके उसे निजी गुप्त खजाने को खोलने की कुँजी बताते है, जिससे शिष्य का कल्पना-जाल स्वतः समा जाता है और हृदय की उस निस्तरग-दशा मे तिमिर-पट हटकर शिष्य का चैतन्य-खजाना खुल जाता है। जो खजाना विश्वभर के खजानो मे परमोत्कृष्ट सार-स्वरूप है, क्योकि विश्वभर के दूसरे खजानो मे तो पृथ्वी के विकार-रूप मणि-माणक, हीरा-पन्ना, सोना-चाँदी आदि मात्र जड़-धन है जो कि चेतन के लिए पर-स्वरूप होने से अनुपभोग्य है अतः उससे तृप्ति नही होती। जबकि इसमे केवल आत्मदर्शन, आत्मज्ञान, आत्मसमाधि, आत्मानन्द आदि अखूट धर्म धन भरा हुआ है जो कि चेतन के लिए निज-स्वरूप होने से उपभोग्य है अतः इसी से परितृप्ति होती है। इस परम निधान के ताले को खोलने की कुँजी निम्न प्रकार है :—

जैसे सूर्य के आतप मे विश्वभर के दाह्य-पदार्थों को भस्मीभूत करने की शक्ति है पर जबतक वह शक्ति बिखरी हुई है, तब तक कार्यक्षम नही है। आतपी-काच द्वारा ज्योहि उसे दाह्य-पदार्थो पर केन्द्रित करते है, त्योही उसमे से अग्नि प्रकट होकर दाह्य-आकृति मात्र को भस्मीभूत करके बिखेर देती है, वैसे ही चेतन-सूर्य के

इच्छा-निरोध-रूप-चैतन्य-आतप मे ज्ञानावरण आदि समस्त कर्म-समूह को भस्मीभूत करने की अथाह शक्ति है, पर जब तक वह शक्ति मन-इन्द्रियो के द्वारा बाह्य इन्द्रिय-विषयो मे बिखरी हुई है तब तक कार्यक्षम नही है, परन्तु सद्गुरु-कृपा से मन इन्द्रियो के जय पूर्वक गुप्ति-गढ पर चढ़कर ज्योहि उसे अन्तर्मुख अनाहत-चक्र पर केन्द्रित-सवर करते है, त्योहि उसमें से ज्ञानाग्नि सुलग कर वह हृदयस्थ आवरण-पट को भस्मीभूत करके बिखेर देती है, फलतः अन्तर्दृष्टि खुल जाती है। इसी दृष्टि से हृदय-प्रदेश मे जब देखो तब त्रिजग स्वामी परम कृपालु श्री जिनेन्द्रदेव साक्षात् धर्म-धन-मूर्ति के रूप मे नजर आते है। इन हृदयस्थ प्रभु-चरणो मे आत्म समर्पण करके प्रभु-छवि को एक टक देखते-देखते ज्यो-ज्यो स्थिरता बढती है त्यो-त्यो चैतन्य प्रकाश भी बढता हुआ यावत् सूर्य-चन्द्र के प्रकाश से भी अधिक हो जाता है। उसी प्रकाश द्वारा गुप्ति-गढ के षट्-चक्र आदि कोठो के व्यूह से कर्म-शत्रु के चक्र-व्यूह का सर्वांग भेदन किया जाता है जिससे चैतन्य प्रकाश भी सर्वांग फैल जाता है। उस सर्वांग प्रकाश मे भगवान के साकार-स्वरूप का जब लय हो जाता है तब आत्मा और परमात्मा का अभेद-अनुभव-रूप आत्म साक्षात्कार होता है। फिर क्रमश आत्म प्रतीति, आत्म-लक्ष और आत्म-स्थिरता धारा को अखण्ड सिद्ध करके साधक-आत्मा, साध्य-परमात्म-पद पर आरूढ होकर त्रिजग-पूज्य बनता है—यह सब धर्म-धन की प्रत्यक्ष साकार-मूर्ति श्री जिनेन्द्र देव की महिमा है, जो महिमा मेरुवत् स्थायी, अडोल और अचिन्त्य है। साकार उपासना का यही रहस्य है। इसके बिना सीधे निराकार-उपासना मे प्रवेश करना आसान नही है। इन दोनो उपासना-पद्धति का रहस्य निम्न ' कार है —

जैसे क्षुधा रोग शान्त करने के लिए सूखे चावल पात्र मे छोड़े बिना ही अग्नि पर सिझाते है तो वे तत्काल कोयले होकर खाने योग्य भी नही रहते, पर यदि उन्हे किसी पात्र मे छोड़, जल मिलाकर

कुशलता से सिझाया जाय तो सीझने पर उनमें रस पैदा हो जाता है, जिससे उदराग्नि शान्त हो सकती है। वैसे ही भव रोग मिटाने के लिए सीधे निराकार आत्म-ध्यान करना तो मानो पात्र बिना ही चावल सिझाना है, परिणामतः साधकीय चेतना अभिमान आदि अग्नि से झुलस जाती है, जो साधना के भी उचित नही रहती। परन्तु यदि उसे परमात्म-स्वरूप प्रेम-पात्र मे अर्पित करके प्रेम-जल से सीच कर सिझाया जाय तो वह सकुशल सीझ कर उसमे आनन्द-रस प्रकट हो जाता है, जिससे सुगमतया साधकीय हृदय की त्रिविध-तापाग्नि शान्त हो जाती है यावत् भव-रोग मिट जाता है। अतः प्रेम-लक्षणा-भक्ति पूर्वक साकार उपासना से आत्म-साक्षात्कार करके ही निराकार आत्म ध्यान हो सकता है, सीधे ही नही। इसीलिये भक्ति मार्ग को सरल मार्ग कहा है। आत्म साक्षात्कार के पूर्व साकार उपासना के बिना साधक, या तो शुष्कज्ञानी बन जाता है, या क्रिया जड़। वैसी हालत मे इस डिब्बे को कोई आत्मज्ञ-इजन की शरण लेकर उनके पीछे-पीछे चलने के सिवाय चारा ही नही है। अन्यथा वह दृष्टि-अन्ध, स्टेशन पर ही पड़ा रहेगा, पर गन्तव्य स्थल की ओर एक कदम भी बढ नही सकेगा।

समिति-गुप्ति-रूप साध्वाचार में गुप्ति-काल तक कर्म शत्रुओ से धर्म-युद्ध चलता है। उसमे थकने पर समिति-काल तक धर्मयुद्ध में आगे बढने के लिये उचित साधन-सामग्री और क्षमता जुटा ली जाती है। बीच के अवकाश मे कोई उदारचेता योद्धा निष्कारण करुणावश शरणागतो को धर्मयुद्ध का महात्म्य समझाकर तदनुकूल तालीम भी सिखाते हैं।

जैन साध्वाचार मे प्रतिक्रमण आदि सभी क्रियाओ के विधि-निषेध, केवल धर्मयुद्ध कौशल भरी योग-साधना है। जिसमें जिनदशा

का अवलम्बन और तदनुरूप स्वरूपानुसन्धान पूर्वक आसन और मुद्रा के साथ स्वाध्याय तथा ध्यान-श्रेणि बतायी गई है। स्वाध्यायात्मक प्रत्येक सूत्र सम्पदा एव ध्यानात्मक प्रत्येक कायोत्सर्ग मे मन और पवन को एक साथ रखने का विधान है, अतएव प्रत्येक कायोत्सर्ग में अमुक श्वासोच्छ्वास की परिगणना सूचित की जाती है, जो अनाहत-ध्वनि के अनुभव की कुंजी है। श्वासोच्छ्वास और तैजस शरीर के घर्षण से यह अन्तर्नाद सदोदित गुंजता ही रहता है, पर लक्ष की बहिर्मुखता के कारण सुनने मे नही आता। सामान्यतया यह ध्वनि शख-ध्वनि वत् 'ओम्' कार के उच्चारण-रूप ध्वनित होती है अतः इसे ॐकार ध्वनि भी कहते है। और इसे ही आठ प्रतिहार्यो मे दिव्य-ध्वनि कहते हैं। हारमोनियम और तान्त्रिक आदि वाद्यो मे प्रथम यही ध्वनि व्यक्त होती है। मन-पवन की एकता से, विना वजाये स्वतः वजने वाली इस अनाहत-दुन्दुभि द्वारा उच्चार्यमाण-सूत्र, गद्य-पद्यात्मक सगीत-रूप में परिणत होकर मन को अन्तर्मुख मुग्ध कर देते है, फलत अन्तर्लक्ष सुगम हो जाता है। फिर अन्तर्लक्ष से क्रमशः साकार-दर्शन, सुधारस आदि का स्वतः अनुभव होता है, जो मन स्थिरता के उत्कृष्ट सहारे है। स्थिर-मन जव आत्म-प्रदेश में पहुँचता है तव ये नाद आदि का लय हो जाता है—ऐसा सुदृढ अनुभव है।

बड़े खेद की वात है कि वर्तमान मे गुरुगम के अभाव वश दिगम्बर और श्वेताम्बर उभय सम्प्रदायो मे कोरी क्रिया-जड़ता फैली हुई है, इसीलिये त्याग और वैराग्य आत्मानुभूति के कारण न वन कर अभि-मान के कारण बनते है। फलतः धार्मिक-झगड़ो मे साधक स्वय उलझ कर दूसरो को भी उलझा देते है, यावत् अनुयायी-वर्ग समेत ये लोग कल्याण-मार्ग से लाखो योजन दूर निकल चुके है। इसीलिये वे वीतराग धर्म की दुहाई देकर इतना राग-द्वेष फेला रहे है।

४. भैया ! अच्छा हुआ कि तुम अबतक किसी भी सम्प्रदाय-

जाल में नही फँसे, अन्यथा उस 'टके गज की चाल' से छूटना ही मुश्किल हो जाता।

धर्म-धन पाने के लिये मैने तो प्रारम्भ मे सम्प्रदाय-जाल मे फँस कर क्रियावन मे मृगवत् खूब दौडा-दौड़ी की। साहित्यवन मे भी मन को जितना दौड़ाया जा सके, अतिशय दौड़ाया। यावत् शाखा-प्रशाखा समेत प्रत्येक दर्शन-वृक्ष की छानबीन की पर सर्वत्र "अन्धेरी नगरी मे गण्डुसेन राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा" ही देखने मे आये, अतः कही से कुछ भी मेरे पल्ले नही पड़ा और मेरी घुड़दौड़ व्यर्थ सिद्ध हुई। इतने पर भी मै नाशीपाश न हुआ। आखिर मूल मार्ग की सकलना पर गहराई से चिन्तन करते करते एक दिन अन्तर्लक्ष जमते ही यकायक परदा हटा और जाति-स्मरण हो आया। सिनेमा की फिलमवत् पूर्व के अनेक जन्म क्रमशः देखने मे आये। जिनमे से कितने ही जन्मो मे जैन साधु था। तीर्थङ्कर निश्रा मे भी मैने वीतराग मार्ग की आराधना की थी, अतः मूल मार्ग का सागोपांग आराधन-क्रम स्मृति मे आ गया। फलतः साम्प्रदायिक-जाल से मुक्त होकर मैंने निकट की प्रेम-गली मे ही अपने पियु को पाया। तब मुझे अपने आप पर हँसी आयी कि अरे! पियु तो अपने भीतर ही है जिसे कि मैं बाहर क्रिया और साहित्य-वन मे ढूँढ रहा था। खैर! जिनेन्द्र देव की कृपा से मुझे अपना परम निधान हाथ लग गया जो केवल धर्म-धन से ही भरा हुआ है। अतएव तब से मुझे सुदृढ़ प्रतीति हो चुकी कि साधना-क्षेत्र मे आत्म-साक्षात्कार के लिये प्रेम-लक्षणा-भक्ति तुल्य दूसरा कोई सर्वोत्तम साधन नही है। यह भक्ति मार्ग सरल होने पर भी उतना ही कठिन है जितना कि मोम के घोडे पर चढ कर आगी मे चलना। इसीलिये इसमें गुरुगम अत्यन्त आवश्यक है और उसके लिये आवश्यक है प्रत्यक्ष आत्मज्ञानी सद्गुरु का निश्चय और आश्रय। यदि सद्गुरु के परीक्षण में भूल हुई तो असद्गुरु की निश्रा मे यह भक्ति-मार्ग गोप-लीला और पोप-लीला का कारण बन जाता है।

आश्रय के विपय मे भी एक वात ध्यान रखने योग्य है—मुमुक्षु के लिये परोक्ष सर्वज्ञ और प्रत्यक्ष आत्मज्ञ के आश्रय मे उतना ही अन्तर है जितना कि प्यासे के लिये दूरवर्ती परोक्ष क्षीर समुद्र और निकटवर्ती प्रत्यक्ष मीठे जल से भरा एक कलशा। एव सद्गुरु और असद्गुरु के आश्रय में भी उतना ही अन्तर है जितना कि मीठा और खारा जलाशय। क्षीर समुद्र के परोक्ष मीठे जल की आशा मे तथा प्रत्यक्ष नमकीन जलपान से प्यासे का प्राणान्त हो सकता है, जबकि प्रत्यक्ष छोटे-से कलशे के मीठे जलपान से प्यासे को जीवन दान मिलता है। प्रत्यक्ष ज्ञानी के अभाव वश परोक्ष ज्ञानी के आश्रय मे ही प्राणो की वाजी लगा देना अच्छा है, क्योकि प्राणान्त वाद प्रत्यक्षज्ञानी का आश्रय अवश्य मिलता है, जहाँ कि भवान्त कर सके किन्तु भव-भ्रमण वढता नही है; जबकि प्रत्यक्ष असद्गुरु के आश्रय मे, चाहे वह लवण-समुद्रवत् अथाह विद्वान हो, परन्तु उसके नमकीन जलवत् वोध पान से केवल भोग तृष्णा ही वढती है, फलतः भव-भ्रमण भी वढ़ता है, कम नही होता।

सर्वज्ञ किवा आत्मज्ञ के प्रत्यक्ष-बोध को गुरुगम कहते है। उन्हे आत्मा हाजराहजूर है अतः उनके अनुभव-प्रवचन में आत्मसाक्षात्कार कराने की भी क्षमता है, पर जिनका परम निधान आत्मा ही मिथ्यात्व भूमि मे गड़ा हुआ है उनके प्रवचन मे वैसी क्षमता नही होती इसीलिये वे खुद भी वेचारे अपने वाप-दादो की बही के आधार पर ही उस परम निधान को क्रिया और साहित्य-वन मे वाहर ढूंढ रहे हैं। जहाँ दुकानदारो की भी ऐसी दशा है वहाँ भला! उनकी दुकान मे से हमे मुहमाँगा दाम देने पर भी आत्मसाक्षात्कार का गुरुगम कैसे मिल सकेगा?

भैया! हमे गुरु तो नही बनना है, पर तुम्हारी योग्यता को देखकर ज्ञानियों की कृपा से जो कुछ जाना, उसमे से थोड़ा सा इशारा

कर दिया। तुम्हे यदि यह ठीक जचे तो इस गुरुगम के अनुसार अपनी साधना का मेल बैठा लेना, अन्यथा कही अन्यत्र गुरुगम-योग की खोज करना, पर आत्म कल्याण मे जरा-सा भी प्रमाद मत करना, क्योकि आयुष्य का कोई ठिकाना नही है।

५. सन्त आनन्दघनजी के इस बोधामृत का परम आदर और उल्लास पूर्वक पान करते करते स्वरूप जिज्ञासु की चेतना अन्तर्मुख उतरते-उतरते जब बाह्यज्ञान शून्य अन्तरग मे स्थिर हो गई, तब बाबा भी चुप होकर स्वरूपस्थ हो गये। उस दशा म जिज्ञासु के हृदय के उपर का परदा हटा और उसका चैतन्य-खजाना खुल गया। खजाने के खुलते ही उसने अपने हृदय-प्रदेश मे चतन्य प्रकाश द्वारा वीतराग धर्म-मूर्त्ति जिनेन्द्रदेव के रूप मे ही सन्त-छवि को साक्षात् देखा। फलतः अन्तरग की निस्तरग दशा मे उसे एकाएक स्फुरणा हुई कि—

हे परम कृपालु ! आप तो साक्षात् राग, द्वेष और मोह आदि बन्धनो से परिमुक्त परम वीतराग-मूर्त्ति हैं, जबकि मै प्रकट राग, द्वेष, और मोह आदि के फन्द मे फँसा हुआ रागी-प्राणी हूँ अत. आपके साथ की हुई मेरी प्रीति का निर्वाह कैसे होगा ? क्योकि एक पक्षीय प्रीति निभ नही सकती, वह तो उभय पक्षीय एक सी प्रकृति वालो के मिलन-काल मे ही निभ सकती है—ऐसा जगत के प्राणी मात्र मे देखा गया है।

चाहे जो हो पर हे हृदय-रमण ! आज से आपको छोड़ और किसी के भी लिये इस हृदय मे स्थान नही है। चाहे आप ! इस दास को अपना ले या ठुकरा दे, पर यह दास तो आपका ही हो चुका। आपकी कृपा से ही मैने यह परम निधान पाया। आपने ही मेरा अनादि कालीन दारिद्र्य दूर कर दिया। अहो ! आपने मुझ जैसे अधे को आँख बख्शाई। अहो आपकी निष्कारण करुणा ! अहो आपका सत्समागम ! अहो आपकी वीतराग छवि ! अहो

आपका योग-वल ! अहो आपका ज्ञान ! अहो आपका सयम ! अहो आपका तप ! धन्य भाग्य मेरे ! कि मुझे आप जैसे साक्षात् ज्ञान-मूर्ति का सुयोग मिला, पर दयालु ! आप मुझे अब विछोह मत दीजियेगा।

तब आकाशवाणी हुई कि—हे अन्तरात्मा ! विश्व मे सबसे बड़ा बन्धन यही प्रीति बन्धन है। इसी के आधार पर ही यह भव-चक्र चल रहा है, जहाँ आत्मा को क्षण-भर भी आराम नही है, अतः प्रीति बधन जोड़ने योग्य नही, तोड़ने योग्य है। जिस प्रकार दूध, दही को खटाई से तो जमता है पर काँजी की खटाई से फट जाता है, उसी प्रकार प्रीति भी, रागी के साथ करने पर जमती है और वीतरागी का साथ करने पर फट जाती है। प्रीति के जमने पर भव-भ्रमण बढ़ता है और फटने पर भव-भ्रमण मिटता है, अतः यदि तुझे भव-भ्रमण से छूटना हो तो प्रीति को जमाने की चिन्ता मत कर, किन्तु फाड़ने के पुरुषार्थ मे लगा रह, अर्थात् तेरे प्रेम प्रवाह को अखण्ड धारा से वीतराग चरणो के प्रति सतत बहाये जा—इसे सुनकर जिज्ञासु निर्विकल्प हो गया।

६. स्वरूप जिज्ञासु को अतरग मे लहराती हुई आनन्द की गगा मे गोते लगाते पुनः स्फुरण हुआ कि:—

अहो ! यदि अन्तर्दृष्टि से घट मे देखा जाय तो यह परम-निधान मुख के ही सामने प्रकट है, वाहर नही, पर आश्चर्य है कि इसे उल्लांघ कर विश्व के प्राणी इसे वाहर ही यत्र-तत्र ढूढ रहे है। भोगियों की कथा तो दूर रही, त्यागी-तपस्वी, साधु, योगीजनों का भी यही हाल है और इसीलिए वे व्याख्यान-बाजी से भोले लोगो को भरमाते है कि 'इस काल में आत्मा का प्रत्यक्ष-दर्शन नही हो सकता पर चरमचक्षु से आत्म दर्शन हो भी कैसे ? विश्व को प्रत्यक्ष बतलाने वाली जगदीश की ज्योति को प्रकटाये बिना ही केवल चर्म चक्षु से आत्मा को देखना तो सूरदासो के देखने तुल्य निरर्थक है, पर करे

क्या ? इस दुषम काल से दुर्भाग्य से केवल सूरदासो से ही सूरदासो की कतारे ढकेली जा रही है, क्योकि मार्गदर्शक भी अन्तर्दृष्टि के न खुलने के कारण अन्धे है और उनका अनुयायी वर्ग भी अन्धा—यह कसी विचित्रता ।

धन्य है मुझे कि सद्गुरु कृपा से इस दुषम काल मे भी यह चैतन्य खजाना मेरे हाथ लग गया, जिसकी कि मुझे सभावना ही नही थी। यदि सद्गुरु नही मिलते तो मै भी उस अन्ध कतार मे ही मारा-मारा फिरता रहता। धन्य है उन जिनेश्वरो को । कि जिन्होने अथक परि-श्रम के द्वारा धर्म-धन से भरे इस चैतन्य खजाने को खोजने का मार्ग प्रगट किया और मुमुक्षुओ को बताया। धन्य है उन आत्मज्ञ सत्पुरुषो को कि जिन्होने जिनेश्वरो के इस स्वानुभूति प्रधान वीतराग मार्ग का अनुसरण करके स्व-पर कल्याण किया और कर रहे है। धन्य है मेरे इन आनन्दघन भगवान को । कि जिन्होने अपना चरण-शरण प्रदान करके मुझे अगम खज़ाना बख़्शा कर उपकृत किया। अहो सत्पुरुषो की अनन्त करुणा !

७. धन्य है उस धरती को । कि जिस धरती ने ऐसे ज्ञानियो की पदधूलि से अपने को पावन कर लिया, एवं उनके च्यवन, जन्म, दीक्षा ज्ञान और निर्वाण आदि के द्वारा वह तीर्थभूमि बन गई। धरती के वे ग्राम-नगर वन-पर्वत त्रिकाल वन्दनीय है। धन्य है उन पवित्र दिवसो को ! कि जिन दिनो ज्ञानियो का धरती पर अवतरण आदि हुआ, दिन ही क्या ? वे घडी-पल आदि काल भी धन्य-धन्य है !

धन्य है उन रत्नकुक्षी-जनेताओ को ! कि जिन्होने ऐसे पुरुषरत्नो को जन्म देकर विश्व-सेवा मे अर्पित किया, और आप भी विश्वपूज्या बनी। माताये ही क्या ? वे मातृ-वश भी धन्य है ! जिन वशो मे ऐसे अनमोल रत्नो को उत्पन्न करने वाली रत्नकुक्षियाँ जनमी। धन्य

है उन जनकों को। कि जिन्हे ऐसे ज्ञानियों के पूज्य पिता बनने का सौभाग्य सप्राप्त हुआ, पिता ही क्या ? वे पितृ-कुल भी धन्य हं कि जिन कुलो ने विश्व के लिये धर्म-पिता की पूर्ति की और कर रहे है, अतः उन सबको त्रिकाल नमस्कार है।

८ अत मे स्वरूप-जिज्ञासु, अपने हृदयस्थ भगवान के साकार-स्वरूप के प्रति अत्यन्त विनयान्वित हो कर प्रार्थना करता है कि :—

भगवान आनन्दघन ! आपकी आनन्दघन के नाम से जो विश्व-व्यापक प्रसिद्धी है वह साथक है, क्योकि आपके केवल-चरण-कमलो के मकरन्द-पान मात्र से भी मेरा यह मन-भ्रमर, अत्यन्त तृप्त, आनदित और पवित्र बन गया, फलतः ऐसा ही स्थायी आनद चाहता हुआ यह प्रार्थना करता है कि हे कृपालो ! बस, अब तो आपके पावन चरण-कमलो के निकट ही मेरा स्थायो निवास हो। भगवन् ! दास की यह छोटी सी प्रार्थना ध्यान मे लेकर कृपया आप अपनी सेवा मे मुझे स्थायी रहने की आज्ञा प्रदान कीजिये, अन्यथा इस दास का जीना असम्भव हो जायगा।

स्वरूपनिष्ठ सन्त आनदघनजी ने अपनी ज्ञान दृष्टि से जिज्ञासु के उक्त सारे स्फुरण को अपने चैतन्य प्रकाश में प्रत्यक्ष देखा और इस सारी घटना के सार को पद्य के रुप मे पत्रारूढ कर लिया।

श्री शान्ति जिन स्तवन

(राग—मल्हार-चतुर चौमासो पडकमी—ए देशी)

शान्ति जिन एक मुझ विनती, सुणो त्रिभुवन राय रे।
शान्ति सरूप किम जाणिये, कहो मन किम परखाय रे ।। शांति० ।।१।।

धन्य तू, आतम जेहने, एहवो, प्रश्न अवकास रे।
धीरज मन धरि सांभलो, कहूँ शान्ति प्रतिभास रे ।। शांति० ।।२।।

भाव अविशुद्ध सविशुद्ध जे, कह्या जिनवर देव रें।
ते तिम अवितत्थ सद्दहे, प्रथम ए शान्ति-पद सेव रे ।। शांति० ।।३।।

आगमधर गुरु समकिती, क्रिया सम्वर सार रे।
सम्प्रदायी अवंचक सदा, सुचि अनुभवाधार रे ।। शांति० ।।४।।

शुद्ध आलम्बन आदरै, तजि अवर जंजाल रे।
तामसी वृत्ति सवि परिहरि, भजे सात्विकी साल रे ।। शांति० ।।५।।

फल विसंवाद जेहमां नहीं, शब्द ते अर्थ सम्बन्धि रे।
सकल नयवाद व्यापी रह्यो, ते शिव साधन सधि रे ।। शांति० ।।६।।

विधि प्रतिषेध करि आतमा, पदारथ अविरोध रे।
ग्रहण विधि महाजने परिग्रह्यो, इस्यो आगमे बोध रे ।। शांति० ।।७।।

दुष्ट जन संगति परिहरी, भजे सुगुरु संतान रे।
जोग सामर्थ चित भावजे, धरै मुगति निदान रे ।। शांति० ।।८।।

मान अपमान चित सम गिणे, सम गिणे कनक पाखाण रे।
वंदक निन्दक सम गिणे, इस्यो होय तू जाण रे ।। शांति० ।।९।।

सर्व जग जन्तु नै सम गिणे, गिणे त्रिण मणि भाव रे।
मुगति संसार बेहु सम धरै, मुणे भव-जलनिधि नाव रे ।। शांति० ।।१०।।

आपणो आतम भावजे, एक चेतना धार रे।
अवर सवि साथ संजोगथी, ए निज परिकर सार रे ।। शांति० ।।११।।

प्रभु मुख थी इम सांभली, कहै आतमराम रे।
थाहरै दरिसणे निस्तरचो, मुझ सीधा सवि काम रे ।। शांति० ।।१२।।

अहो! अहो! हूँ मुझनै कहूँ, नमो मुझ नमो मुझ रे।
अमित फल दान दातारनी, जेहने भेंट थई तुझ रे ।। शांति० ।।१३।।

शान्ति सरूप संखेपथी, कह्यो निज पर रूप रे।
आगम मांहि विस्तर घणो, कह्यो शान्ति जिन भूप रे ।। शांति० ।।१४।।

शान्ति सरूप इम भावसे, धरि शुद्ध प्रणिधान रे।
'आनन्दघन' पद पामसे, ते लहसे बहुमान रे ।। शांति० ।।१५।।

१६. श्री शान्ति-जिन-स्तवनम्

शान्ति का स्वरूप :

१-२ एकदा एक मुमुक्षु आत्मशान्ति की खोज मे तीर्थयात्रा करता हुआ सन्त आनन्दघनजी के सत्सग में आया और उनकी प्रशान्त-मुद्रा के दर्शन से प्रसन्न हुआ। विधिवत् वदन करके उनसे पूछा कि—

भगवन्! आत्म-शान्ति का स्वरूप क्या है? और उसकी अनुभूति किस तरह हो सकती है? एवं स्वभाव तथा परभाव का रहस्य क्या है?—ये प्रश्न मुझे बेर-बेर उठते ह, पर उनका ठीक समाधान मैं अब तक कही से भी नही पा सका। कृपया आप मुझे इन प्रश्नो का सरल भाषा मे समाधान कराईये।

सन्त आनन्दघन—जिसके हृदय मे ऐसे पारमार्थिक प्रश्नो को उठने का अवकाश मिलता है, वह निकट भव्य का लक्षण है अतः तू धन्य है। क्योकि ससारीप्राणी प्रायः शरीर, ससार और भोगो के सम्बन्ध मे ही दिन-रात चिन्तन किया करते है, यावत् उन्ही के हृदय मे अपने आत्म-कल्याण विषयक ऐसे प्रश्नो को उठने का मौका ही नही मिलता। मेरे हृदय मे तो बचपन से ही ऐसे प्रश्न उठा करते थे, और समाधान के लिये मैं दिन-रात छटपटाता था। दूसरे किसी भी कार्य मे मुझे रूचि न होने के कारण ग्राम्यवासी लोग मुझे इस उपनाम 'यति' से ही पुकारा करते थे।

इस शरीर की जन्मभूमि मे शान्तिनाथ-भगवान का भी जिनालय था। वहाँ मै नित्य नियमित रूप से दर्शन-पूजन करने जाता था, और रोज भगवान से प्रार्थना करता था कि हे भगवान! शान्ति का स्वरूप क्या है? और वह मैं कैसे जान सकूँ? शान्ति का कारण स्वभाव-निष्ठा और अशान्ति का कारण परभाव-निष्ठा जो बताई

जाती है उन स्वभाव-परभाव को भी मैं कैसे पहचान सकूं ? मन में धैर्य धारण करके मैंने कई रोज तक इन्ही प्रश्नो की रट लगा रखो। मुझे विश्वास था कि भगवान मेरा समाधान अवश्य करेगे। एक दिन पूजन के पश्चात् मन्दिरजी मे मै खासी देर तक बैठा रहा। सभी लोगो के चले जाने पर प्रेम-विह्वल दशा मे गद्गद् होकर मै प्रभु को उपालम्भ देने लगा कि "हे नाथ ! एक गाम-मात्र का ठाकुर भी अपनी शक्ति के अनुसार दुखियो के दुख दूर करने की उदारता दिखलाता है, जबकि आप तो तीनो ही भुवनो के ठाकुर—त्रिभुवन-स्वामी है,

तो फिर हे जिनेश्वर ! आप के दरबार मे मुझ जसे पामर की एक छोटी सी अरजी की भी सुनाई क्यो नही होती ? और आप का नाम भी शान्तिनाथ जग-मशहूर है, तो फिर मेरी अशान्ति क्यो नही मिटाते ? मैं रोते-रोते जब बेहोश हो गया तब मेरे घट में प्रकाश हुंआ और यकायक हृदय प्रदेश मे भगवान की साकार मूर्त्ति प्रकट हो गई। प्रभु ने स्मित-वदन से जो कुछ कहा उसे मैने एकाग्रता के साथ सुना। मेरे प्रश्नो का समाधान मिल जाने पर मै होश मे आकर नाच उठा। घर जाकर पारिवारिक-मण्डली को समझा-बुझा मैने क्षमा आदि दश विध यति-धर्म की दीक्षा लेली और सचमुच यति बन गया। गुरुदेव ने भी मेरे अन्तरानन्द की छाया को देख कर मेरा नाम भी लाभानन्द जाहिर किया।

भगवान शान्तिनाथ की साकारमूर्त्ति के द्वारा मुझे जो प्रत्युत्तर मिला था, वही तुझे मैं सुना दूँ, जिससे तेरे प्रश्नो का भी स्वतः समाधान हो जाय।

३ प्रभु के मुखारविन्द से मुझे सुनने मे आया कि—बेटे ! जबतक तू मुझ से छेटे निकल गया था तब तक ही तुझे अशान्ति का सामना

करना पड़ा। अब जब कि तू मेरी गोद म आ गया, तब भला ! बता कि यहाँ अशान्ति कहाँ है ? क्योकि मैं आत्मा हूँ और आत्मा ही शान्ति का घर है एव यह निज-स्वरूप है। अतः शान्ति प्राप्त करने के लिए निज-स्वरूप का और अशान्ति से बचने के लिये पर-स्वरूप का परिज्ञान कर लेना नितान्त आवश्यक है। जैसे कि विश्व मे ये शरीर आदि पदार्थ है वैसे ही आत्मा भी एक पदार्थ है। आत्मा, पुद्गल-परमाणु, कालाणु, आकाश, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय— इन छः द्रव्यो के समुदाय को विश्व कहते हैं। ये सभी पदार्थ भावात्मक अर्थात् अपने अस्तित्व को कायम रखने वाले होने से सत्ता-स्वरूप है, क्षीर-नीर वत् परस्पर मिले हुये होने पर भी स्वतत्र है। ये किसी से बने हुये न होने से अनादि एव विनाशशील न होने के कारण अनन्त है। इनमे आत्मा, स्व-पर को देखने जानने के स्वभाव वाला चेतन-स्वरूप होने से चेतन कहलाता है तथा शेष पाँचो ही वैसी योग्यता वाले न होने के कारण जड़ कहलाते है। सख्या मे प्रथम के तीन अनेक एव शेष तीनो ही एक एक है।

चेतन-सृष्टि मे बहुत से चेतन तो शरीर गाड़ी से चालक वत् सम्बन्ध से मुक्त है, सम्बन्ध रखने वाले बद्ध है, एव थोड-से शरीर जबकि अचेतन-सृष्टि मे भी बद्ध पुद्गल-पिण्ड-रूप शरीर-गाड़ियाँ एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक की व्यवस्था वाली छोटी-बड़ी अनन्तानन्त है और शरीराकार से मुक्त पुद्गल स्कन्ध एव परमागु भी अनन्तानन्त है। आकाश सभी को जगह देता है और खुद स्व-प्रतिष्ठा है। विश्व मर्यादा स्थित आकाश-चित्रण लोकाकाश और शेष विभाग अलोकाकाश कहलाता है। गति के माध्यम-रूप धर्मास्तिकाय के निमित्त से गतिशीलो की गति होती है और स्थिति के माध्यम-रूप अधर्मास्तिकाय के निमित्त से स्थितिशीलो की स्थिति होती है। केवल चेतन और पुद्गल गति पूर्वक स्थिति तथा स्थिति पूर्वक गति

कर सकते है। गाड़ी के पहिये की धुरीवत् काल-द्रव्य के निमित्त से सभी द्रव्यो का अवस्थान्तर होता है। इसी तरह किसी भी दूसरे की प्रेरणा के बिना ही विश्वतन्त्र का स्वतः प्रवर्तन हो रहा है। और विश्व अनादि अनन्त है।

स्व भवनम् अर्थात् अपनी द्रव्य मर्यादा मे अपने गुण और पर्यायो के कार्यान्वित बने रहने का स्वभाव, एव उनके, स्व-द्रव्य-मर्यादा को लॉघ कर विमुख कार्यान्वित वने रहने को विभाव किवा परभाव कहते है। चैतन का चेतन-स्वभाव और जड का जड़ स्वभाव है। चेतन मे जड़ स्वभाव नही है और जड़ मे चेतन स्वभाव नही है। चेतन और पुद्गलो की अनन्त शक्तियो मे से एक विभाविनी-शक्ति भी है अतः उससे उनका विभाव-परिणमन अर्थात् स्व-द्रव्य-मर्यादा के विमुख चारो ओर स्वगुण-पर्यायो का झुकाव और प्रवर्तन भी हो सकता है, जवकि शेष चारो मे वह शक्ति न होने से वैसा प्रवर्त्तन भी नही हो सकता। स्वभाव-परिणमन से शान्ति की ओर विभाव-परिणमन से अशान्ति की अनुभूति होती है और ये उभय प्रकार की अनुभूतियॉ केवल चेतन को ही हो सकती है, पर ज्ञान-शून्य जड़ो को कदापि नही हो सकती।

परिणमन मे सभी द्रव्य स्वतत्र है अतः चेतन भी स्वतत्र है। चेतन के परिणमन मे चेतना का प्रवर्त्तन ही मुख्य है और वह श्रद्धा प्रयोग चैतन्य प्रकाश को फैलाकर उसे धारण-पोषण किये रहने के प्रयोग को श्रद्धा कहते है। स्वरूपानुसन्धान के बिना ही श्रद्धा के केवल बहिर्मुखी मिथ्या-प्रयोग के द्वारा विभाव-परिणमन हो करके चेतन, देह आदि मे मोहित रहता है। उस दशा मे चैतन्य प्रदेश में प्रतिक्षण राग-द्वेप मूलक शुभाशुभ भाव तरग उठा करती है और उनसे चेतन निरन्तर क्षुभित बना रहता है। चेतन की यह क्षुभित दशा ही अशान्ति का स्वरूप है। फलतः चैतन्य-प्रदेश मे पुण्य-पापात्मक जड़-कर्म-शृंखला का आश्रव-आगमन होकर चेतन स्वतः उनसे आबद्ध हो

देह जेल में कैदीवत् फस कर चौरासी का चक्कर काटता रहता है। यह पर-भाव निष्ठा है और इसका कारण मिथ्या-श्रद्धा-प्रयोग है अतः वह हेय है। जबकि स्वरूपानुसन्धान मूलक श्रद्धा के अन्तर्मुखी सम्यक् प्रयोग से स्वभाव-परिणमन होता है तब चेतन का दैहिक आदि मे मोह नही होता। उस दशा मे उसे शुभाशुभभाव तरग नही उठते अतः चैतन्य-प्रदेश मे क्षोभ रहित केवल वीतरागता ही बनी रहती है—चेतन की यह अक्षुब्ध दशा, यही आत्म शान्ति का स्वरूप है। फलतः चैतन्य-प्रदेश मे पुण्य-पापात्मक नवीन कर्म-शृखला का आगमन रुक कर सवर होता है और पुरानी कर्म-शृखला चूर-चूर हो बिखर जाने रूप निर्जरा होती रहती है, यावत् सम्पूर्ण कर्म-निर्जरा हो जाने पर आत्मा देह-जेल-यात्रा से सर्वथा मुक्त होकर परमात्मा बन जाता है। अतएव सम्यक् श्रद्धा-प्रयोग उपादेय है। क्योकि इसीसे आत्म शान्ति-प्रापक स्वभाव निष्ठा सधती है।

सभी जिनेन्द्रदेवो ने अनन्त भाव-भेदो के विस्तार से जो यह पदार्थ-विज्ञान बताया है वह अनुभव का विरोधी न होने से अविरुद्ध एव हेय के परित्याग पूर्वक उपादेय के अभ्यास से चित्त-शुद्धि का कारण होने से अत्यन्त विशुद्ध है, अतः इसे जिस रूप मे कहा उसी रूप मे सही समझ कर श्रद्धा के सम्यक्-प्रयोग को साधकीय जीवन मे अपना लेना—यही श्री शान्तिनाथ भगवान के चरण-सेवा की किंवा मोह-क्षोभ रहित परम-शान्ति-पद प्राप्त कराने वाली उपासना की प्रथम भूमिका है।

४. उपरोक्त भूमिका मे प्रवेश करने के लिये सर्व-प्रथम निर्मोही परम शान्तरस की प्रत्यक्ष सजीवनमूर्त्ति श्री सद्गुरु का अनन्य आश्रय, साधक को नितान्त आवश्यक है। क्योकि वे भव-रोग-भिषग्वर भव-रोगी को नब्ज देख कर आत्म-अशान्ति का निदान करके रोगी की प्रकृति अनुसार उचित औषध, उसकी सेवन-विधि, पथ्य-पालन आदि

बताते है। यदि रोगी को मल-दोष के कारण कब्जी हो तो विरेचन द्वारा मल शुद्धि करा कर शक्ति-वर्धक औषध देते है। सद्गुरु वैद्य की शरण गये बिना ही यदि कोई रोगी अपनी अशान्ति और अशान्ति के कारणो को केवल पुस्तको के आधार पर किंवा कुवैद्यो के द्वारा मिटाना चाहे तो वह असफल ही रहेगा, फिर भी यदि वह दुःसाहस करेगा तो उल्टे उसका रोग असाध्य बन जायगा। इसलिये मान मोड़ कर सद्गुरु के शरण मे जाने मे ही उसकी भलाई है।

आश्रितो की आत्मा-अशान्ति मिटाने मे निम्न लक्षणो वाले सद्गुरु का शरण ही कार्यकारी है अतः तदनुसार परीक्षा करके ही उनका शरण स्वीकार करना चाहिए। जो गुरु द्रव्य-भाव निर्ग्रन्थ, स्व-पर-समयविद्, समर्थ-श्रुत-ज्ञानी और आत्मद्रष्टा हो अर्थात् गुरु आम्नाय द्वारा समस्त द्वादशागी के साररूप श्रद्धा का सम्यक् प्रयोग हाथ लग जाने से जिनकी अन्तर्दृष्टि इतनी स्वच्छ हो चुकी हो कि जिस दृष्टि मे आत्मा और शरीर आदि समस्त दृश्य-प्रपच प्रत्यक्ष भिन्न-भिन्न सतत् दिखाई देता हो, फलतः जो शुभाशुभ-कल्पना-जाल को मिटाने वाली सभी क्रियाओ के सार-स्वरूप सवर क्रिया मे सिद्धहस्त हो, इस अप्रमत्त-कला से जो प्रधानतः अपनी पवित्र आत्मानुभूति-धारा को धारण किये हुये योग-प्रवृत्ति से निवृत्त एव गौणतः आत्म-लक्ष-धारा मे योग-प्रवृत्ति से प्रवर्तित रहते हों—ऐसे सद्गुरु की आम्नाय भी बाडेबन्धो और प्रतिसेवा की चाह से मुक्त अवञ्चक होती है, अतएव ऐसे गुरु की शरण से, उनकी बताई हुई विधि-निषेधात्मक साधन-क्रिया से और उससे आने वाले क्रिया फल से साधक को आत्म-वञ्चना कदापि नही हो सकती।

गुरु यदि अभव्य वत् यावत् नव पूर्व तक के पोथी-पण्डित तो हो, पर सम्यक् द्रष्टा न हो तो उनसे त्रिविध आत्म-वञ्चना अवश्यभावी है; एवं गुरु यदि सम्यग्द्रष्टा हो पर समर्थ-श्रुत-ज्ञानी न हों तो उनसे

आत्मवञ्चना यद्यपि नही होती, किन्तु उन गूगे का गुड़ खाना आसान नही है अतः गुरु मे सम्यग्दृष्टि बल और समर्थ-श्रुतज्ञान-बल दोनो का होना नितान्त आवश्यक है।

५. आत्म-घातक रागी देव-देवियॉ की साधना, मत्र-तत्र-यत्र, जादू-टोना, झाड़-फूंक, दोरा-धागा, स्थभन, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, एव गच्छ-कदाग्रह, धार्मिक-कलह, विषय-कषाय, श्राप-प्रभृति, तामसी-वृतियॉ है, और मठ-मन्दिर, गुफा-उपाश्रय, गद्दी-जागीर आदि का आधिपत्य तथा छत्र-चामरादि विभूति, शृंगार, तेल-तम्बोल, पौष्टिक-आहार, लोक-परिचय आदि राजसी-वृत्तियाँ है—ऐसी दुष्ट-वृत्तियो के प्रवाह मे जो बह रहा हो वह तो मुमुक्षु कहलाने का भी अधिकारी नही है अतः कुगुरु है, सुगुरु तो ऐसी राक्षसी-वृत्तियो को कालकूट तुल्य समझ कर उन्हे जड़ मूल से ही उखाड फेंकते है, और वे उत्तम—क्षमा, मृदुता, ऋजुता, निर्लोभता, तप-सयम, सत्य, शौच, ब्रह्मचर्य, अकिचनता आदि सात्विक-वृत्तियो को अपना कर आत्मार्थ के सिवाय दूसरी लब्धि-सिद्धि आदि तक के सारे जजाल से सर्वथा मुँह मोड कर केवल सिद्ध समान अपनी शुद्ध ज्ञापन सत्ता मे चित्त-वृति-प्रवाह को स्थिर करके शुद्ध स्वावलम्बन मे ही सदा आदरशील बने रहते हैं।

६. सुगुरु-रूप मे वे ही स्वीकार्य है कि जिनकी वाणी के एक-एक शब्द मे नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुढ, एवभूत किंवा निश्चय-व्यवहार आदि सारे नयो-उपनयो का वचनाशय अविरोध-रूप से व्याप्त हो। केवल उसी के द्वारा किसी भी दृष्टिकोण का एकान्तिक अपलाप न होने से फलितार्थ मे आत्मार्थ का विरोध न हो उसी तरह शब्द और अर्थ का सम्बन्ध व्यक्त होता है, फलतः वह अनुभव मूलक वाणी ही निश्चय-व्यवहार की सन्धि पूर्वक सम्यक्-विचार और सम्यक्-आचार की एकता मे प्रेरक बन कर सिद्धपद

के साधन-रूप सम्यक्-दर्शन-आराधना, सम्यक्-ज्ञान-आराधना, सम्यक्-चारित्र-आराधना एवं सम्यक्-तप-आराधना—इन चारों ही आराधना मे श्रोताओ को जोड़ने मे समर्थ है।

जिनकी वाणी उत्सूत्र-प्ररूपणा, मनभेद, मतभेद, सघभेद और आत्मक्लेश उत्पन्न करने वाली हो वह तो श्रवण के भी योग्य नही है अतः मुमुक्षुओ को वैसी वाणी से सदा सावधान रहना चाहिये।

सप्तनय का स्वरूप निम्न प्रकार है—

(१) शब्द, शील, कर्म, कार्य, कारण, आधार, आधेय आदि के आश्रय से होने वाले उपचार को स्वीकार करने वाले दृष्टिकोण को 'नैगम-नय' कहते है।

(२) अनेक तत्त्व और अनेक व्यक्तियो को किसी एक सामान्य-तत्त्व के आधार पर एक रूप मे सकलित कर लेने वाले दृष्टिकोण को 'सग्रह-नय' कहते हैं।

(३) सामान्य-तत्त्व के आधार पर एक-रूप मे सकलित वस्तुओ का प्रयोजन के अनुसार पृथक्करण करने वाले दृष्टिकोण को 'व्यवहार-नय' कहते हैं।

(४) द्रव्य की वर्तमान-अवस्था मात्र को ग्रहण करने वाले दृष्टिकोण को 'ऋजुसूत्र-नय' कहते है।

(५) शाब्दिक प्रयोगो में आनेवाले दोषो का परिहार करके तदनुसार अर्थभेद को स्वीकार करने वाले दृष्टिकोण को 'शब्द-नय' कहते है।

(६) शब्दभेद के अनुसार अर्थभेद को स्वीकार करने वाले दृष्टिकोण को 'समभिरूढ-नय' कहते है।

(७) शब्द के फलितार्थ को घटित होने पर ही उस वस्तु को उसी रूप में स्वीकार करने वाले दृष्टिकोण को 'एवभूत-नय' कहते है।

ये सातो नय, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक-इन दोनो नयों मे समाविष्ट हो जाते है। वस्तुमात्र सामान्य-विशेष उभयात्मक है। सामान्य के दो भेद है—एक तिर्यक्सामान्य—अनेक पदार्थों मे रही हुई समानता, जैसे कि सभी प्रकार की गायो मे गोत्व , और दूसरा उर्ध्वतासामान्य—क्रमशः आगे-पीछे होने वाली विविध पर्यायो मे रहने वाला अन्वय, जैसे कि पिण्ड, स्थान, कोश आदि विविध अवस्थाओ मे रहने वाली मिट्टी। विशेप के भी दो भेद है, एक पर्याय-विशेष—जैसे कि आत्मा मे होने वाली हर्ष-विषाद आदि अवस्थाये ; और दूसरा व्यतिरेक-विशेप—जैसे कि गाय और भैंस दोनो पदार्थो मे असमानता है। इनमे से सामान्य अश के द्वारा वस्तु को स्वीकार करने वाले दृष्टिकोण को द्रव्यार्थिकनय और विशेप अश के द्वारा वस्तु को स्वीकार करने वाले दृष्टिकोण को पर्यायार्थिकनय कहते है।

ये नय-परिज्ञान, वस्तु-व्यवस्था समझने के लिए है , परन्तु वस्तु-व्यवस्था मे उलझने के लिए नही है। जो गुरु नय-परिज्ञान द्वारा वस्तु-व्यवस्था की उलझन से मुक्त होकर स्वरूपस्थ रह सकते हैं, उन्हे ही वस्तु-व्यवस्था का व्याख्यान करने का अधिकार है और उस वाणी से ही स्व-पर कल्याण हो सकता है।

७. साधनाकाल की साधक-क्रियाओ मे विधिमुख द्वारा प्रयोजन-रूप स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव युक्त अपने आत्म-तत्त्व का एवं तदनुकूल सहजदर्शन, सहज-ज्ञान, सहजसुख और सहजवीर्य-रूप स्वभाव का अविरोध-रूप से ग्रहण तथा निषेधमुख द्वारा स्व-सत्ता-भिन्न समस्त जड़-चेतनात्मक परतत्त्व, परभाव एव पर के निमित्त से उत्पन्न होने वाले राग आदि सभी विभाव-भाव—इन सबका सर्वथा परित्याग करना साधक के लिये नितान्त आवश्यक है—ऐसी सुदृढ शिक्षा

जिनागमो मे स्पष्ट-रूप से बतायी गई है। तदनुसार जिन महापुरूषों ने केवल त्याग विधि को ही अपनाया हो—ऐसा नही, प्रत्युत त्याग-विधि के साथ ग्रहण-विधि को भी अच्छी तरह अपना कर स्वात्म-तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया हो, वे ही सद्गुरु के रूप मे स्वीकार्य है।

त्याग विधि और ग्रहणविधि का परस्पर अन्योन्य-आश्रय है, अतः त्याग के बिना ग्रहण नही होता और ग्रहण के बिना त्याग नही होता। फिर भी जिन्हे ग्रहणविधि के प्रति जरा-सा भी ध्यान नही है और केवल नाम-मात्र की त्यागविधि अपना कर अपने आपको त्यागी-गुरु मानते-मनवाते है, वे सचमुच गुरुपद के योग्य नही है, क्योकि उनकी इष्टानिष्ट कल्पना मन्द नही हुई। जब तक इष्टानिष्ट कल्पना है तबतक शुद्धोपयोग नही है और शुद्धोपयोग के बिना स्वतत्त्व का साक्षात्कार तक नही होता, सर्वविरति मूलक गुरुपद की तो बात दूर है। उस दशा मे साधक स्वभाव का त्यागी है, विभाव का नही। जिन्हे शुद्धोपयोग का लेशतः भी परिचय नही है अतएव जो केवल पर-परिचय की धामधूम मे दिन रात लगे रहते है, उन्हे यदि गुरु मान लिया जाय, तब ऐसा स्वभाव-त्यागी तो सारा ससार ही है, फिर गुरु-शिष्य के व्यवहार का भी क्या प्रयोजन है ?

ग्रहणविधि से आत्म साक्षात्कार हुये बिना ही अपनायी हुई त्यागविधि ने क्रियाजड़त्व को जन्म दिया और त्यागविधि को ठुकरा-कर कोरी ग्रहण विधि की बातो ने शुष्कज्ञानियो की सृष्टि रची। साधना क्षेत्र मे क्रियाजड और शुष्कज्ञानी दोनो ही असाध्य-रोगी है। उनके शरण मे जाने पर शरणागत का रोग भी असाध्य हो कर उसे भी अशान्त कर देता है, अतः आत्मशान्ति के गवेषको को चाहिये कि वे सदैव उन लोगो से सावधान रहे।

८. साधु-जीवन मे जैसे विपयी-कपायी-लोगो का सग सर्वथा त्याज्य है, वैसे ही क्रियाजड और शुष्कज्ञानियो का सग भी सर्वथा

त्याज्य है, क्योकि वे लोग आत्मानुभव से शून्य होने से मत-ममत्व, मान-बड़ाई आदि दोषो मे आबद्ध-दोषी हैं, अतः जो गुरु, उन दोषी-जनो के सग-प्रसग को छोड़ कर केवल सद्गुरु के शरणागत मुमुक्षु शिष्य मण्डल के साथ ही सग-प्रसग रखते हो , एव मुक्ति के साक्षात् कारण-रूप शुद्ध चैतन्य भावात्मक सामथ्य-योग को धारण करके प्रातीभ-ज्ञान प्रकाश द्वारा असगानुष्ठान मे दत्त-चित्त होकर सतत मोक्ष मार्ग मे प्रगति कर रहे हो—वे समर्थ योगी ही सद्गुरु के रूप में स्वीकार्य है, दूसरे नही , क्योकि केवल इच्छा योगी और शास्त्रयोगी आत्म-शान्ति-प्रदायक आत्मानुभूति के मार्ग मे खुद ही प्रवेशित न होने से उसमे वे दूसरो को प्रवेशित कराने मे भी असमर्थ हैं।

सूर्योदय के पूर्व अरुणोदय के प्रकाश तुल्य निरावरण चैतन्य-प्रकाश को 'प्रातिभ-ज्ञान' कहते है, कि जिसके द्वारा दृष्टि-पथ मे आने वाले विश्व के स्व-पर पदार्थ स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। फलत शास्त्रो की मदद के बिना ही साधक केवल स्वानुभूति के बल से ही मोक्ष माग मे गमन करने मे समर्थ होता है, अतः वह 'समर्थयोगी' कहलाता है एव उसकी साधना-प्रवृत्ति 'सामर्थ्य-योग' कहलाती है।

९-१०. वास्तव मे मोह से छुट्टी लेकर यदि ज्ञायक-सत्ता को देखा जाय तो उसमे जन्म-मरण आदि ससार है ही नही और जहाँ ससार ही न हो वहाँ बन्ध-मोक्ष के कल्पना-प्रवाह मे क्यो बहना ? चाहे त्रिविध-कर्म-जाल अपना नाटक कैसा भी दिखाता रहे, पर उसे देखने-जानने मात्र से ज्ञाता-द्रष्टा को क्या लाभ-हानि ? फिर भी जो अपनी ज्ञायक-सत्ता से विचलित हो कर जन्म-मरण, बन्ध-मोक्ष, लाभ हानि, हर्ष-शोक, सुख-दुख आदि द्वन्द्व भावो मे उलझकर क्षुभित रहते है, वे स्वानुभूति के माग से दूर है।

विश्व में प्राणी मात्र के ये जो नाना प्रकार के शरीर है, वे तो केवल पुद्गल-स्कन्धो के ही आकार-प्रकार है और उन सभी मे जो

आत्मा है, वह अकृत्रिम सिद्ध समान एक-सा और स्वतन्त्र है, कृत्रिम न्यूनाधिक और परतन्त्र नही—ऐसा ज्ञानियो का अनुभव है, अतः देहधारियो मे परस्पर पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-बहन, गुरु-शिष्य, शत्रु-मित्र, अच्छे-बुरे, ऊँच-नीच, अपने-पराये आदि किये गये द्वन्द्वारोप को सही कसे माना जाय ? फिर भी जोलोग ऐसे आरोपित्तवम में मगन है, वे निरे अज्ञानी हे।

इसी तरह सुवर्ण और पाषाण, घास-फूस और हीरा-मणि-माणेक आदि सभी केवल मिट्टी के ही विकार मात्र है, फिर भी उनमे महत्व-तुच्छत्व का आरोप करके हेय-उपादेय-वृत्ति रखना-यह भी केवल अज्ञान का ही विलास है।

विश्व-व्यवहार मे दूसरो के साथ वर्त्ताव के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति केवल अपनी ही योग्यता का प्रदर्शन करता है—सज्जन, सन्मान का अभिनय दिखाकर अपनी सज्जनता का और दुर्जन, अपमान का अभिनय दिखाकर अपनी दुर्जनता का। फिर भी दूसरो के द्वारा दिखाये गये सम्मान को अपना गुण समभकर फूले नही समाना एव अपमान को अपना अवगुण समभकर क्षुभित होना—यह भी निरी वालिशता है।

लोग निन्दा, स्तुति भी अपनी-अपनी रुचि-अरुचि की ही किया करते है, दूसरों की नही तव भला ! हमारे लिये वंदक और निन्दक में क्या अन्तर है ? फिर भी जो वन्दक की स्तुति से खुश और निन्दक की निन्दा से नाखुश होते हैं—वे अज्ञानी है।

वास्तव मे जो ज्ञानी है वे तो निन्दक और वन्दक को समान गिनते हैं। मान और अपमान को भी एक-सा समभ कर समचित्त रहते हैं। उनकी दृष्टि मे तो क्या कनक और क्या पापाण, क्या तृण और क्या मणि—सभी एक-से मिट्टी ही है। ज्ञानियों को क्या अपना और

क्या पराया ? उन्हें सभी के शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न प्रत्यक्ष दिखते है अतः विश्व के प्राणी मात्र के प्रति एक-सी आत्मदृष्टि और समरसता है। उनके विषय मे अधिक क्या कहूँ ? वे तो अपनी ज्ञायक सत्ता में इतने तल्लीन रहते है कि हम देहधारी है या देहातीत ? यह भी अपनी स्मृति में लाना उन्हे कठिन हो जाता है अतः उनके लिए मुक्ति और ससार एक-से है, फलतः दोनो के प्रति उनकी समबुद्धि है।

ये सब उपरोक्त लक्षण जिनके जीवन मे एवभूतनय से विद्यमान हो—वास्तव मे वे ही सत्पुरुष हैं और वे ही इस ससार सागर से पार उतरने के हेतु मुमुक्षुओ के लिए सफरी जहाज है। तू समझ ले कि सद्गुरु ऐसे ही होते ह। जीवन मे इन लक्षणो के घटित होने के पूर्व शिष्य-पद है, गुरुपद नही, और वह गुरुपद से भी दुर्लभ है। यदि कोई यथार्थ रूप में शिष्य-पद पर आरूढ हो जाय तो उसका शिष्यत्व अवशेष नही रह सकता, क्योकि सद्गुरु उसके शिष्यत्व को मिटाकर तुरन्त अपने तुल्य बना देते हें और ऐसे सद्गुरु ही इस स्वानुभूति के मार्ग मे कार्यकारी है।

मेरा आशीर्वाद है कि तू भी ऐसा ही ज्ञानी हो। दशविध यति धर्म को अगीकार करके तू सच्चा यति बन और पूर्व जन्म की साधना-पद्धति के बल से स्वानुभूति के मार्ग में अग्रसर हो।

११. स्वानुभूति के मार्ग मे अग्रसर होने के लिए तू अपने उपयोग के ऊपर निरन्तर आत्म-भावना के पुट लगाते रहना, क्योकि दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग-रूप अपनी चेतना का आधार एक मात्र अपनी आत्मा ही है। परमार्थतः चेतन और चेतना का परस्पर आधार-आधेय-सम्बन्ध है। चेतन आधार है और चेतना आधेय है। आधेय चेतना को अपने उद्गम-स्थल चेतन का आधार मिलने पर ही वह स्वरूपस्थ और स्थिर रह सकती है। उसके पिन और रेकार्ड की तरह चेतन से अनुभव तन्त्रियो की वीणा बजने लगती है फलत; आत्म प्रदेश में भी

सवत्र आनन्द की गगा लहराने लगती है, अतः उसे स्वरूपस्थ रखना साधकीय-जीवन मे नितान्त आवश्यक है। आत्म-भावना ही चेतना-प्रवाह को स्वरूपाभिमुख लगाये रखने की कुंजी है और जैसी भावना वैसी ही सिद्धि होती है। जिस प्रकार अभ्रक-भस्म के ऊपर दूसरी औषधि-रस की हजार भावनाये यदि दी जायॅ तो उसकी ताकत चरम सीमा पर पहुॅच जाती है, उसी प्रकार चेतना के दर्शन-ज्ञानोपयोग के ऊपर जितने भी आत्म-भावना के पुट लगाये जायँ उतनी ही आत्म-शक्ति प्रकट होती है। यावत् आत्म-भावना के बल पर ही परम्-शान्ति का धाम सम्पूर्ण कैवल्य-पद की अनुभूति हो कर आत्मा परमात्मा बन जाता है अतः आत्मभावना को स्थायी बनाना—यही साधकीय जीवन का परिपूर्ण सार है। वर्तमान जिनागमो मे मुनिचर्या के प्रसग में कई जगह 'अप्पाण भावेमाणे विहरई'—इस लब्धि वाक्य का उल्लेख जो तुझे सुनने मे आया है, उसका यही रहस्यार्थ है।

आत्मा के साथ जो इन शरीर आदि का सहवास है, वह तो केवल सयोग-सम्बन्ध मात्र है अतः टिकने वाला नही है, क्योकि सभी सयोग, वियोग-रुप मे ही बदलते हुए देखने मे आते है, और उनका आविर्भाव भी अपनी चेतना को उसके आधारस्वरूप, आत्मा पर आधारित न करके उसे केवल दृश्य-प्रपञ्च की ओर परीसार अर्थात् यत्र-तत्र भटकाने से ही हुआ है—जो कि चेतन की अपनी निजी मूल-भूल है, शेष अशेप परिभ्रमण तो उसी का ब्याज मात्र है। अतः तू, अपने आत्मा के अतिरिक्त सयोग-सम्बन्ध वाले उन शरीर आदि सभी अन्य भावो से उदासीन होकर केवल अपने 'सहजात्म-स्वरूप' की स्मरण धारा मे ही निरन्तर निमग्न रहो, इसी से ही तुझे आत्म-साक्षात्कार होगा, यावत् तू 'परमगुरु' के आनन्दघन-पद पर आरूढ हो जायगा।

१२. इस प्रकार मेरे हृदयस्थ भगवान के श्री मुख से अपूर्व शिक्षा-बोध और अपूर्व आशीर्वचन सुनकर मेरी आत्मा मे सर्वांग अपूर्व प्रकाश

फैल गया जिसे देखकर मैं आनन्द की गगा मे बह कर अपूर्व चैतन्य-सागर में पहुँच कर तद्रूप हो गया। इस अपूर्वकरण के फल-स्वरूप मेरी चेतना, शरीर आदि समस्त पर-द्रव्य और पर-भावो से वैसी निवृत्त हो गई जैसी कि नारियल के अन्दर रहते हुए भी खोपड़ी से असग सूखे गोले की हुआ करती है। वह निवृत्ति यावत् अन्तर्मुहूर्त्त तक अपार रही। इस अनिवृत्ति-करण मे मुझे अपने स्वरूप की झाँकी भी हो गई। आत्मानन्द से छकी सी उस अद्भूत-दशा में मेरे आत्माराम ने भगवान से गद्गद् हो कर कहा 'हे दीनबन्धु! तेरे प्रत्यक्ष दर्शन को पाकर यह पतित अव पावन हो गया। अहो आपकी कृपा से मझधार मे डूबती हुई मेरी नैया सहज ही मे पार लग गई। ओहो अब तो मेरा निस्तार हो ही चुका क्योंकि मैने तेरी कृपा से सिद्ध समान ही अपने को पाया। अब मेरे सभी दुख द्वन्द्व मिट गये और सभी मनोवाञ्छित सिद्ध हो गये। मुझे अपना शान्ति-स्वरूप-परम निधान हाथ लग गया अत: मैं कृत-कृत्य हो गया।

१३ कुछ क्षणो के पश्चात् जबकि मैने देखा कि भगवान साकार-स्वरूप मेरी आत्मा से अभिन्न हो गया, और केवल मेरा आत्माराम ही अवशेष रह गया। तव मुझे सुदृढ प्रतीति हुई कि आत्मा और परमात्मा एक ही अभिन्न पदार्थ है क्योकि तू मिटकर केवल मैं ही अवशेष रह गया। फिर मै अपने आपको कहने लगा कि अहो मैं! अब 'तू' के रूप मे किसको नमस्कार करूँ ? क्योकि तू ही मै है। अत मेरा मुझे ही नमस्कार हो। नमोस्तु-नमोस्तु !!!

अहो मेरा आत्माराम तू धन्य-धन्य है। क्योकि तुझे अपने ही घट मे उन बेहद के गुरु-परम गुरु से साक्षात् भेट हो गई कि जिन परम गुरु ने दातार होकर सेवा के फलस्वरूप अपना असीम सहजात्म स्वरूप को ही दान मे देकर तुझे अपने तुल्य बना दिया। अनादिय सफर मे तेरे लिए यह भेट नई है क्योकि इसी से तेरे जोवन का नव-निर्माण

हुआ। इन अमित फल-दान दातार ने केवल तुझे ही नही प्रत्युत जो भी कृपा-पात्र मिले उन सभी को अपने तुल्य बनाया है और बनाते रहते है। बाहर मे तो केवल हद के ही गुरु मिलते है अतः साधक केवल उन्ही के सहारे बेहद में प्रवेश नही कर पाता। ॐ

बाद अब मेरी भाव-समाधि खुल गई तब मैंने जो कुछ किया वह तुझे प्रथमत सुना दिया है।

१४. प्यारे! यह मेरी अनुपम कथा है। ऐसी अनुभव की बाते शायद तेरे-पढने-सुनने में न आयी हो अत. इस कथन पर तुझे विस्मय और अनेक विकल्प भी उत्पन्न हो सकते हैं। तुझे यदि इन बातो की परीक्षा करनी हो तो जिस तरह मैंने प्रयोग किया उसी तरह तू भी सच्चाई से प्रयोग करके देख ले, जिससे तुझे भी प्रतीति हो जाय कि यह कथन सच है या झूठ? झूठ बोलकर न तो भव भ्रमण बढाना है और न तेरे से कुछ लेना देना है। केवल निष्कारण करुणा-वश ही मैने तुझे यह अनुभव गाथा सुनाई है; जिसमे कि तेरे प्रश्नो के समाधान के रूप मे आत्मशान्ति का स्वरूप, उसे प्राप्त करने के उपाय और स्वभाव - परभाव का स्वरुप भी सक्षेपतः आ गया। त्रिजगपति जिनेन्द्र श्री शान्तिनाथ भगवान ने जिन शब्दो मे यह जो कुछ कहा था उन्ही शब्दो को मैंने दोहराया है। उपरोक्त विषय को तुझे यदि विशेषतः समझने की इच्छा हो तो जिनागमो मे गोते लगाकर देख लेना क्योकि जिनवाणी मे इन विषयो पर अनेक युक्ति-प्रयुक्तियो पूर्वक अत्यधिक विस्तार से बहुत-कुछ उल्लिखित है। पर याद रखना! कि शास्त्रो मे अनुभव मार्ग के प्रति केवल इशारा ही किया गया है अतः गुरुगम से उसके मर्म को समझे बिना अनुभव-पथ मे गति नही होती और अनुभव-शून्य गुरुओ की केवल कल्पना रम्य बातो से भी उस पथ मे प्रवेश तक नही हो पाता। फलतः वैसी बातो और शास्त्रो मे गोता लगाते हुए चाहे जिन्दगी बिता दो, पर मन का धोखा नही मिट सकता। इस

धोखे की टट्टी से बचने का उपाय तो केवल सद्गुरु की कृपा एव उनका अनुभव इशारा ही कार्यकारी है। इस कथन का वह मतलब नही है कि शास्त्रज्ञान सप्राप्त करना व्यर्थ है, किन्तु यह मतलब है कि शास्त्र तो ज्ञानियो के कथन की साख पूरते है अतः ज्ञानियो की वाणी समझने मे वे उपकारी होते है पर उनका अध्ययन गुरुगम पूर्वक होने पर ही वे कार्यकारी है अन्यथा जीव शास्त्रीय अभिनिवेश मे ही उलझ कर साधना के भी योग्य नही रहता।

१५ इस तरह जो कोई आत्मशान्ति का गवेषक उपरोक्त शान्ति-स्वरूप के रहस्य को परमादर उल्लास और एकाग्रता के साथ सुनकर शुभ-प्रणिधान पूर्वक अर्थात् अपने मन को विषय कषायो से विमुक्त रख कर मन्त्र स्मरण, आत्म-चिन्तन, आत्मभावना आदि के द्वारा प्रशस्त करके वचन को प्रभु-कीर्तन, स्वाध्याय, शास्त्र-प्रवचन आदि के द्वारा प्रशस्त करके एव काया को प्रभु-सेवा, तप-त्याग, इन्द्रिय-सयम आदि के द्वारा प्रशस्त करके परा-भक्ति के सदनुष्ठान मे एक-निष्ठ होकर हृदय की सतत धुलाई करता हुआ अपनी आत्मा को शान्त-रस से प्रभावित करेगा वह मुमुक्षु क्रमशः परमात्म-दर्शन आत्म-साक्षात्कार, आत्म,-प्रतीति-आत्म-रमणता को प्राप्त करके सत्पुरुष बनेगा। और फिर बहुत से साधु-पुरुषो का मार्ग दर्शक बन कर वीतराग-सन्मार्ग की प्रभावना द्वारा सन्मान पाता हुआ क्षपकक्षेणि मे आरोहण करके घाती कर्मों के घात पूर्वक-कैवल्य-लक्ष्मी से सुसज्ज होकर अनेक भव्य-जीवो का तारक बनेगा। अन्त में अघाती कर्मों से भी सर्वथा विमुक्त होकर सम्पूर्ण शुद्ध, स्थायी और सघन ज्ञानानन्द प्रधान साम्राज्य का अधिनायक हो अपने सिद्ध-पद पर स्थिर हो जायेगा।

श्री कुन्थु जिन स्तवन

(राग-रामकली-अंबर देहु मुरारी हमारो—ए देशी)

कुन्थु जिन-मनड़ूं किम ही बाजै हो।
जिम जिम जतन करी नै राखूं, तिम तिम अलगू भाजै हो ॥ कुन्थु० ॥१॥

रजनी वासर वसती ऊजड, गयण पायाले जाय।
सॉप खायनै मुखडूं थोथूं, ए उखाणो न्याय हो ॥ कुन्थु० ॥२॥

मुगति तणा अभिलाषी तपिया, ज्ञान ने ध्यान अभ्यासै।
वैरीडो कांइ एहवो चिन्ते, नाखै अवले पासे हो ॥ कुन्थु० ॥३॥

आगम आगमधर नै हाथै, नावे किण विध आंकू।
किहॉं कणे जो हट करि हटकूं, तो व्याल तणी पर वॉकू हो ॥ कुन्थु० ॥४॥

जो ठग कहूँ तो ठगतो न देखूं, साहूकार पिण नांही।
सर्व मांहिनै सहुथी अलगूं, ए अचरिज मन मांही हो ॥ कुन्थु० ॥५॥

जे जे कहुं ते कान न धारै, आप मतै रहै कालो।
सुर नर पंडितजन समझावै, समझै न म्हारो सालो हो ॥ कुन्थु० ॥६॥

मै जाण्यो ए लिंग नपुंसक, सकल मरद णै ठेलै।
वीजी बाते समरथ छै नर, एहने कोई न झेलै हो ॥ कुन्थु० ॥७॥

मन साध्यूं तिण सघलू साध्यूं, एह बात नहीं खोटी।
इम कहै साध्यूं ते नवि मांनूं, एक ही बात छै मोटी हो ॥ कुन्थु० ॥८॥

मनडो दुराराध्य तें वसि आण्युं, ते आगम थी मति आंणूं।
'आनन्दघन' प्रभु म्हारो आणो, तो सांचूं करि जाणूं हो ॥ कुन्थु० ॥९॥

१७. श्री कुन्थु-जिन स्तवनम्

मन की दुराराध्यता :

सन्त आनन्दघनजी के उपरोक्त अनुभूति मूलक बोधामृत का पान करके वह मुमुक्षु आश्चर्यचकित और स्तब्ध हो गया। कुछ क्षणो के पश्चात् वह दीनता पूर्वक बोला कि 'भगवन्' आपने अपनी अनुभव गाथा सुनाकर मुझे जो उत्साहित किया तथा अनुभूत प्रयोगो को आजमाने के लिए आदेश दिया—इसे मैं आपका कृपा-प्रसाद समझता हूँ। अब मुझे विश्वास हो गया कि मेरे शिर छत्र समर्थ-गुरु मुझे मिल गए। मेरे लिए तो आप ही साक्षात् 'जिन' है क्योकि आपने दर्शन-मोह को जीत कर अपने अनन्त ऐश्वर्य-युक्त परम निधान का साक्षात्कार कर लिया है। पर प्रभो आपके अनुभूत प्रयोग की मैं किस तरह अजमाईश करूँ ? क्योकि अजमाईश का होना तभी सम्भव है जबकि मन स्व-वश हो, परन्तु मेरा मन तो स्व-वश नही है अतः वह किसी भी साधन में नही लगता। मेरे इस कुंथ जितने कुथित मन ने मुझे परेशान कर दिया है नाथ ! अधिक क्या कहूँ मैं तो मन के आगे विवश हूँ। सन्त आनन्दघनजी—अरे बावरे ! तू हताश क्यो होता है चाहे तेरा मन कितना ही कुथित हो पर है वह कुन्थ जितना न ? तब देखता क्या है चढा दे उसे कुन्थु-जिन चरणो मे। क्योकि सच्चाई के साथ प्रभु चरणो मे मन की बलि चढाने पर वहाँ वह किसी भी तरह लग जायेगा—स्थिर हो जायगा।

१. मुमुक्षु—भगवन् ! श्री कुन्थु जिनेश्वर के चरणो में मेरा यह पाजी-मन निश्चित रूप मे कैसे लगे क्योकि वैसा प्रयत्न करते-करते मैं तो हार गया। ज्यो-ज्यो इसे प्रभुचरणो मे रखने की कोशिश करता हूँ त्यो-त्यो यह मरकट वहाँ से दूर ही दूर भागता फिरता है, परन्तु क्षण भर भी प्रभु-चरणो में नही टिकता।

मुमुक्षु के मन की हालत को देखकर मानो उसे साक्षात् शिक्षा देने के लिए ही सन्त आनन्दघनजी का मन तत्काल स्वरूपस्थ-स्थिर हो गया, जिसे समीपस्थ एक चिरपरिचित सत्संगी ने समझ लिया और बाबाजी के गैबी सकेत अनुसार विनोद के लिए उसने मुमुक्षु के साथ चर्चा शुरु कर दी।

समीपस्थ सत्सगी—(व्यग्य में) भाईजी जब कि आपका मन प्रभु चरणो मे लगाने पर भी नही लगता तब इसका मतलब यह हुआ कि इसे अपने घर मे रहना ही पसन्द होगा और इसी लिए अन्यत्र लगाने पर यह दौड़ धूप करता होगा।

२. मुमुक्षु—अजी ! यदि इसे घर मे रहना अच्छा लगता हो और इसीलिए दौड़ धूप करता हो तब तो हम क्यों रोते फिरते। पर इसकी दौड़ धूप विचित्र प्रकार की है। अपनी दौड़ धूप के पीछे यह नही देखता है रात और नही देखता है दिन। जागृतिकाल मे इसका विलास क्षेत्र है बाह्यसृष्टि और निद्राकाल मे है—स्वप्नसृष्टि। एक क्षण मे तो यह बडे-बड़े नगर, ग्राम, कर्वट, मण्डप, खेड़ प्रभृति बस्तियो की सैर करता है तो दूसरे क्षण मे वन, उपवन, पर्वत, मैदान, नदी, समुद्र प्रभृति उजाड़ की। और क्या फिर तीसरे क्षण मे आसमान के स्वर्गों की सुगन्ध झाकता है जब कि चौथे क्षण मे पाताल मे जाकर नरक की दुर्गन्ध मे आलोटता है। पर कही एक क्षण भी चुप नही बैठता।

सत्सगी—इसे इधर उधर से कुछ पल्ले पड़ता होगा, तब न यह भटकता है ? क्योकि विश्व में प्रयोजन के विना किसी की भी प्रवृत्ति देखने मे नही आती।

मुमुक्षु—आप कैसी बाते बनाते है ? इसके पल्ले पड़ने जैसा बाहर है ही क्या ?

जैसे जब कि सर्प डसने के अवसर मे लोग चिल्ला उठते है कि अरे साप ने खा लिया तब न्याय दृष्टि से यदि देखा जाय तो क्या साँप के पल्ले कुछ पड़ता है ? क्योंकि काटने पर भी साँप का मुंह तो जैसा का तैसा खालीखम ही बना रहता है—ठीक यही दृष्टान्त मन की दौड़ धूप पर चरितार्थ होता है।

सत्सगी—जिसका मन प्रभु भक्ति मे नही लगता हो उसको चाहिए कि अपने मन को ज्ञेय-ध्यान से हटाकर उसे ज्ञान-ध्यान के अभ्यास मे लगाये रखने का निरन्तर पुरुषार्थ किया करे।

३. मुमुक्षु—बन्धो ! सुना जाता है कि जिन्हे सर्वार्थसिद्ध-विमान तक के भौतिक सुख को तनिक भी लालसा नही थी और केवल भव-बन्धन से मुक्त होने की अभिलाषा वश घोर तपस्या करते हुए सन्त प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ज्ञान-ध्यान के अभ्यास द्वारा ही केवल कायोत्सर्ग स्थित दत्तचित्त थे। पर जब पास से जाते हुए महाराजा श्रेणिक के सेनानी के मुख से उन्हे अपने परित्यक्त पुत्र और राष्ट्र के सम्बन्ध में अनहोनी बाते सुनने मे आयी तब तत्काल राजर्षि के मन ने ऐसा ऊधम मचाया कि उन्हे साँतवी नरक मे धकेलने की सामग्री इसने एकत्रित कर दी। इसी तरह न जाने कितने ज्ञानी-ध्यानी त्यागी तपस्वी मुमुक्षुओं को इसने पथभ्रष्ट कर दिया होगा। सन्मार्ग मे दाव लगाते ही ऐसे महात्माओ को भी यह बैरी कोई ऐसी चिन्ता जाल मे उलझा देता है कि उनके पासे ही पलट जाये। जबकि महात्माओ का मन ज्ञान-ध्यान मे एकनिष्ठ नही रह सकता तब मुझ जैसे घर गृहस्थियो के मन का क्या कहना।

सत्सगी—राजर्षि के मन ने तो फिर तत्काल उन्हे केवलज्ञान भी प्राप्त करा दिया। अतः दूसरो की बात छोड़ो और आप आपकी सम्भालो ! यदि ज्ञान ध्यान मे मन न लगता हो तो उसे शास्त्र-स्वाध्याय मे लगाना उचित है। शास्त्रों मे भी उन्ही शास्त्रो का विशेषतः

स्वाध्याय करना चाहिए कि जिनसे आगमो की विशेपतः गम अर्थात् जानकारी मिल सकती हो। विशेष जानकारी मे भी वह गुरुगम साधकीय जीवन मे इष्ट है कि जिस गुरुगम से अहता की आग और ममता की बेड़ी से मुक्त होकर 'आये' और 'गये' श्वासोच्छ्‌वास की 'मन' निगरानी करता रहे। क्योकि स्वरूप विलास भवन के द्वारपाल से यदि सुदृढ परिचय हो जाय, तो उसकी मेहरबानी उतरने पर इससे महाराजा की मुलाकात भी सुलभ हो जाय ?

४. मुमुक्षु—अजी ! चौरासी 'आ' वा 'ग' मन मे ही जो 'मन' राजी हो, उस मन को आगम का समस्त गम भी क्या कर सकती है और आये-गये पवन-पिता की गोद मे भी वह पवन-पुत्र कैसे ठहर सकता है ! मुझे अनुभव है कि स्वाध्याय के लिये आगम साहित्य हाथ मे उठा कर मनोनिग्रह के ही विषय पर जहाँ मनन करना शुरु किया कि तुरन्त चलते हुये विषय को ठुकरा कर यह दुर्दम मन भाग खड़ा हो जाता है—ऐसे चपल को स्वाध्याय द्वारा भी किस तरह अकुश मे लाया जाय ? और जब कभी इधर-उधर भागते हुये इसे यदि हठ पूर्वक किसी तरह हटकाता हूँ अर्थात् बलपूर्वक रोकता हूँ तब तो इस वक्र की गति छेड़े हुये साँप की सी और भी कुटिल हो जाती है तब तो मेरे हृदय प्रदेश मे यह इतना उत्पात मचाता है कि जिसकी कोई हद ही नही। और यदि इसे हठ के बिना ही जब प्रेम से समझाता हूँ तब इतनी वक्रता नही करता। इस प्रकार उल्टी चाल वाले घोडे-की-सी इसकी दशा है। उक्त घोड़े को तो लगाम भी लग सकती है पर इसे लगाम भी नही लग सकती।

सत्सगी—बन्धो ! चौरासी के आवागमन मे मन राजी है या हम ? मन की नाच-कूद क्या सचमुच उत्पात-रूप है या यह हमारी समझ का अपराध है। मन घोड़े को उल्टी चाल किसने सिखायी ? और इसे लगाम लगाई जा सकती है या नही ? इन सब प्रश्नो का

समाधान तो बाबाजी देगे। मुझे लगता है कि यह सब आपकी मानसिक ठगाई है।

५. मुमुक्षु—मन यदि ठगाई करके कही से कुछ लाकर मुझे देता हो, किवा मुझे धोखा देकर मेरा कुछ दूसरो को दे देता हो तब तो मै इसे ठग कह सकूँ, पर इसकी ऐसी कोई ठगाई मेरी नजर मे नही आती, अतः इसे ठग कैसे कहा जाय ? मेरे साथ ठगाई तो इन्द्रियाँ करती है, क्योकि शब्द आदि पञ्च विषयो मे सुख-बुद्धि करा कर वे मुझे सदैव विषय-वन की ओर आकर्षित किया करती है।

सत्सगी—आपका मन जबकि ठग प्रतीत नही होता तब तो साहूकार ही सिद्ध हुआ , क्यो सही है न ?

मुमुक्षु—अजी ! यह कहाँ का साहूकार ? क्योकि इसी की प्रेरणा पाकर ही इन्द्रियाँ अपने अपने कार्य मे प्रवृत्त होती हैं। जब तक मन की प्रेरणा नही मिलती तब तक इन्द्रियाँ जड़-मशीनवत् कार्यक्षम नही हो सकती। मन और इन्द्रियो मे परस्पर प्रवर्त्तक-प्रावर्त्तक सम्बन्ध प्रतीत होता है अतः मेरे साथ धोखेबाजी मे इन्द्रियो को इसी का हाथ है—इस दृष्टि से साहूकार भी नही कहा जा सकता।

सत्सगी—जबकि आपका मन न तो ठग है और न साहूकार, तब इसे आप कैसा समझते हैं।

मुमुक्षु—इसके लक्षण तो नारद के से अजीब देखने मे आते है। क्योकि यद्यपि अनिद्रिय विषयो मे तो अकेला , किन्तु पञ्च-विषय-वन मे सभी इन्द्रियो से मिलकर ही यह सैर-सपाटा उडाता है। जबकि भोग के अवसर मे वह प्रत्येक इन्द्रिय को अपने-अपने विषय-भोग मे लगाकर और आप सभी से अलग रहकर यह नारद-योगी केवल तमाशा ही देखता रहता है। अत इसकी माया कोई अनिर्वचनीय है। बस मन के सम्बन्ध में मुझे यही आश्चर्य लगता है।

सत्सगी—शास्त्रो मे कहा गया है कि आत्मा के लिये भव-बन्धन और भव-मोक्ष का कारण केवल एक मन ही है, और मन का प्रेरक आत्मा है। प्रेरक की गफलत मे अशासित-मन प्रेरक को बन्ध-माग मे ही पटक कर स्वय इधर-उधर भागता-फिरता है, किन्तु प्रेरक यदि सजग हो और वह समझा-बुझाकर इससे काम ले तो शासित-मन प्रेरक को मात्र अन्तर्मुहूर्त मे ही भव-बन्धन से मुक्त करा देता है, अतः आत्मा, मन से जो भी काम कराना चाहे वह करा सकता है और वह अपने कर्त्तव्य क्षेत्र मे स्वतत्र है। मेरी विनम्र राय है कि आप और सभी दलीले छोड़ कर स्वय सजग रहिये एव प्रेम-शासन से इसे स्व-वश रखकर मोक्ष मार्ग मे लगाइये।

६. मुमुक्षु—अजी! क्या बताऊं? इसे शासित रखने के लिये मैं कितनी मेहनत करता हूँ—वह तो मेरा जी जानता है। मौका पाकर इसे जो-जो भी हित-वचन कहता हूँ—सब पत्थर पर पानी। इस ओर कान तक नही देता। जैसा कि दिमाग खराब हो जाने पर काल्हा अर्थात् पागल-आदमी किसी का कहना नही सुनता वैसे ही मेरा यह पागल मन मेरी एक भी नही सुनता और केवल अपने मते चलकर सतत कल्पना-प्रवाह के गन्दे कार्माण-कीच मे सूकर की तरह आलोटता हुआ अपना शरीर सर्वांग काला किये रहता है।

मनोजय के सम्बन्ध मे केवल मै ही असमर्थ हूँ—ऐसी बात नही है, बड़े-बडे अचिन्त्य शक्ति-सम्पन्न देवता लोग, शेर-गेंडे अष्टापद आदि दुर्दम पशुओ को भी जीते-जी कान पकड़कर कैदी बनाने वाले बलवान मनुष्य और मनुष्यो मे भी मनोजय के विषय मे ही व्याख्यान-बाजी करने वाले समर्थ पोथी-पण्डित भी खुद के मन को समझा-बुझाकर उसे स्व-वश रखने में असमर्थ सिद्ध हुये हैं। क्योकि अपनी बहिन कुमति का भरमाया मेरा यह साला किसी के समझाने पर भी नही समझता। अतः इसके कारण सारी देह-धारी-दुनिया परेशान है।

सत्सगी—अहो ! आश्चर्य है कि आप जवाँमर्द होकर भी एक नामर्द को जीतने मे नामर्दी दिखा रहे है । अच्छा, जनाब ! यदि आप अपने साले को वास्तव में अपने आधीन बनाना चाहते हो, तो मैं एक युक्ति बतावूँ । अपने आपनी अर्द्धांगिनी के नाम की आदि मे जो 'कु' जोड रखा है, उसे हटाकर 'सु' को स्थापित कर दीजिये और फिर देखिये कि आपकी श्रीमतीजी अपने भैया को किस तरह अपने पति की सेवा मे लगाती है। क्योकि मन को समझाने का काम सुमति का है, कुमति का नही। अत सर्व-प्रथम आप अपनी मति को कुमति से सुमति बनाइये और फिर देखिये कि मन वश होता है या नही। क्योकि मन आखिर है तो नपुंसक न ?

७. मुमुक्षु—यद्यपि मैंने व्याकरण शास्त्रो से जाना कि मन नपुंसक लिगी है पर पर नपुंसक होते हुए भी सभी पुरुषो को सन्मार्ग से उन्मार्ग की ओर ढकेल देता है। दूसरो की बात छोड़ो, खास व्याकरण शास्त्र रचने वाले खुद पाणिनी ने मन को नपुसक समझकर उसे अपनी प्रिया के शील-रक्षा के लिये उनके पास भेजा, पर उन जैसे विद्वान का मन भी बजाय शील-रक्षा के, स्त्री मे ही रमने लग गया। उसे ऐसा व्यभिचारी देखकर खुद पाणिनी भी हताश हो गये। जबकि मन को नपुंसक ठहराने वाले पाणिनी भी मन को जीत न सके ? तब दूसरे सामान्य व्यक्तियो का क्या कहना ? अतः फलितार्थ मे यही सिद्ध हुआ कि नामर्द होने पर भी मन स्त्रियो के साथ मिलकर ऐसा समर्थ हो जाता है कि बडे-बडे जवाँमर्दों को भी पछाड देता है।

यद्यपि मर्द लोग दूसरी बातों—जैसे कि कनकावलि-रत्नावलि, एकावलि सिंहनिःक्रीडित और आतापना आदि अघोर तप तपने मे रेचक, पूरक, कुम्भक आदि कठोर योग साधन मे, शेर सर्प आदि के दमन मे तैर करके बडे-बडे जलाशयो को पार करने मे, निराधार बॉस पर खेलने मे, तलवार की धार पर नाचने मे, भूत-पिशाच आदि

को वशवर्ती बनाने में, आश्चर्यजनक जड़-विज्ञान के आविष्कारों में, विमान के बिना ही आकाश मे उड़ने मे, और ऐसे बहुत से विकट कार्यों मे समर्थ है किन्तु वे ही लोग अपने मन को दबाकर चैतन्य-प्रदेश में धँसाने मे असमर्थ है। क्योकि बडे-बड़े पराक्रमी पशु-मानव और देव-दानवो में से ऐसा कोई समर्थ माई का लाल (माड़ीजाया) मन-विजेता आज तक मेरे देखने मे नही आया था अतः मेरी मति नास्तिक-सी हो गयी थी, पर आज सौभाग्यवश इन मन विजेता साक्षात् जिन-चैतन्य मूर्ति सन्त भगवन्त का दर्शन पाकर मेरी मति की नास्तिक-गति आस्तिकता के रूप मे बदल गई।

८. साधकीय जीवन मे अपने मन कोस्वाधीन बनाना आसान नही है क्योकि साधना-क्षेत्र की सार-रूप सबसे बड़ी और कड़ी साधना ही मनोजय की साधना है। शेष तप, जप और विभिन्न प्रकार की क्रियाओ का खप—इत्यादि सभी तो केवल इसी साधना की पूर्ति के लिये उप-साधन-मात्र हैं। इसीलिये विश्व के सभी आस्तिक दर्शनो ने एक स्वर मे पुकारा कि "जिसने अपने मन को साधा अर्थात् स्व-वश बना लिया उसने ससार मे सब कुछ सिद्ध कर लिया"—यह कहावत भ्रान्त नही , सही है। यदि मनोजय सुलभ होता तो सिद्धपद पाना भी सुलभ हो जाता।

मुझे मनोविज्ञान के समझने की बड़ी लगन है अत मनोजय के बारे मे जिस किसी व्यक्ति का नाम सुनता हूँ कि 'सा' ब ! फलाँ सन्त पक्के मनोजयी हैं—तुरन्त उनकी जाँच करने चला जाता हूँ और गहराई से छानबीन करने पर उन्हे मनचले ही पाता हूँ। क्योकि मुझे बहुत से मुख-मौनियो को मिलने का सुअवसर मिला, पर निकट के परिचय से सुनिश्चित-रूप मे जान गया कि मन-मौन के सम्बन्ध मे उन्होने भी अपनी हार मानली है, अपने शरीर की कई दिनो तक एक आसन पर चुप बैठाने वाले भी बहुत-से आसनसिद्ध साधक

मिले, पर अपने मन को चुप बैठाने मे वे भी कायर पाये गये। इसी तरह त्यागी, तपस्वी और ज्ञाननिष्ठ भी बहुत से सुने गये पर परीक्षण से प्रतीति हुई कि सकल्प विकल्प, इच्छाये और ज्ञेय-निष्ठा मे वहाँ भी कोई फर्क नही था। फलतः कोई यदि कह देता कि 'अमुक व्यक्ति ने अपने मन को साध लिया है, तो उक्त बात को मैं नही मानता था, क्योकि मन-साधना वाली इस कहावत को चरितार्थ करके दिखाना—बहुत बडी बात अर्थात् कड़ी समस्या है। इन महापुरुष जैसे कोई विरले ही मनोजयी हो सकते है। अहो! क्या है यह इनकी अद्भूत-दशा। बाबा की यह स्वाभाविक आत्मदशा हमारे हृदय-पट पर मनोजय की छाप लगा देती है।

फिर उल्लास मे आकर उस मुमुक्षु ने बाबा आनन्दघन के नाम का बुलद आवाज से जयघोष किया। वह जयघोष बाबा के ब्रह्मरन्ध्र मे जब टकराया तब उनकी समाधि खुली। उस दशा मे बाबा के चहरे पर अनुभव-लाली टपक रही थी, जिसे देखकर अनुमान लगाया जा सकता था कि बाबा आनन्द की गगा मे गोते लगाकर ही बाहर आये है।

९ मुमुक्षु—भगवन्! अपने दुस्साध्य मन को आपने साध कर स्ववश बना लिया है—इस बात को आगम-प्रमाण और अनुमान-प्रमाण से मेरी चपल बुद्धि भी स्वीकार करती है। क्योकि शास्त्रो के सकेत अनुसार आपकी दृष्टि, अधखुली और स्थिर है, आपका शरीर चापल्य रहित और ओजसपूर्ण है, आपकी वाणी आत्म-प्रदेश के स्पर्श पूर्वक नाभिमण्डल की तह से उठती हुई गम्भीर, दिव्य, मधुर और निद भ है अतः श्रोताओ की अनुभव तन्त्रियो को झकृत कर देती है। आपके विचार, वाणी और वत्तन मे परस्पर अविरोध देखने मे आता है, जो कि मुझ जैसे नास्तिक को भी आस्तिक बना देता है। आपके चहरे पर आत्मानन्द की लाली छायी हुई है

अतः आप वास्तव में ही मनोजयी एव आनन्दघन हैं। प्रभो! अब कृपा करके मेरे मन को भी कुन्थु-जिन-चरणो मे तन्मय स्थिर कर दीजिये, क्योंकि आपकी महिमा अचिन्त्य है। आप अपने योगबल से सब कुछ करने मे समर्थ है। नाथ! इस दास पर यदि आपकी कृपा-नजर उतर जाय और तदनुसार मेरा अस्थिर मन साध्य मे स्थिर हो जाय, तो मै अनुभव-प्रमाण से भी मनोजय की सत्य-प्रतीति करके कृतकृत्य हो जाऊँ। भगवन्! अब तो मुझे आपका ही सहारा है। अतः कृपा कीजिये।

परम कृपालु सन्त आनन्दघनजी ने अपने अन्तर्ज्ञान से मुमुक्षु और सत्सगी के पारस्परिक सवाद को जान लिया और मुमुक्षु की पात्रतानुसार मन के सम्बन्ध मे उसके प्रत्येक प्रश्न को हल किया। बाद अपनी योग-शक्ति से अपने चैतन्य-प्रकाश को ब्रह्मरन्ध्र से फैलाकर मुमुक्षु के ब्रह्मरन्ध्र मे सचारित किया, जिसके फलस्वरुप जैसे दीये दीया होता है, वैसे ही मुमुक्षु की चैतन्य-ज्योति जगमगाने लग गई, और उसमे मुमुक्षु का मन वैसा आकर्षित होकर स्थिर हो गया जैसे कि दीपक की लौ के प्रति पतगा।

बाद सन्त आनन्दघनजी ने भव्य-जीवो के उपकार के हेतु उपरोक्त सवाद के सारांश को पद्य मे गुम्फित करके पत्रारूढ कर लिया।

श्री अर जिन स्तवन

(राग-परजियो मारु, ऋषभ नो वंश रयणयरु, ए देशी)

धरम परम अरनाथनो, किम जाणू भगवन्त रे।
स्व पर समय समझावियै, महिमावंत महन्त रे॥ धरम० ॥१॥

शुद्धातम अनुभव सदा, स्व समय एह विलास रे।
परबडि छाँहडि जे पडै, ते पर समय निवास रे॥ धरम० ॥२॥

तारा नखत ग्रह चंदनी, ज्योति दिनेश मझार रे।
दरसण ज्ञान चरण थकी, सकति निजातम धार रे॥ धरम० ॥३॥

भारी पीलो चीकणो, कनक अनेक तरंग रे।
परजाय दृष्टि न दीजिये, एकज कनक अभंग रे॥ धरम० ॥४॥

दरसण ज्ञान चरण थकी, अलख सरूप अनेक रे।
निरविकल्प रस पीजिये, सुद्ध निरंजन एक रे॥ धरम० ॥५॥

परमारथ पथ जे कहै, ते रंजे इक तन्त रे।
व्यवहारे लखि जे रहै, तेना भेद अनन्त रे॥ धरम० ॥६॥

व्यवहारे लख दोहिलो, कांइ न आवै हाथ रे।
शुद्ध नय थापन सेवतां, नवि रहै दुविधा साथ रे॥ धरम० ॥७॥

एक पखी लखि प्रीतनी, तुम साथे जगनाथ रे।
किरपा करीनै राखज्यो, चरण तले गहि हाथ रे॥ धरम० ॥८॥

चक्री धरम तीरथ तणा, तीरथ फल तत सार रे।
तीरथ सेवे ते लहै, आनन्दघन' निरधार रे॥ धरम० ॥९॥

१८. श्री अर-जिन स्तवनम्

एकदा दिगम्बर सम्प्रदाय के कितनेक मुमुक्षु, स्वानुभूति के हेतु प्रत्यक्ष-सत्पुरुष की खोज मे निकल पडे। उन्होने अपनी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिये अनेक देशो मे परिभ्रमण किया और साथ मे तीर्थ यात्रा भी करते गये, पर वास्तविक सत्पुरुष का उन्हे कही भी साक्षात्कार नही हुआ। आखिर वे तीर्थाधिराज सिद्ध-क्षेत्र श्री शिखरजी की वन्दना के लिये गये। वहाँ उन्हे किसी मरुधर-देश निवासी एक मुमुक्षु के मुख से पता चला कि मरुधर-भूमि मे साक्षात् कल्पवृक्ष तुल्य आनन्दघनजी नामक एक स्वरूप-निष्ठ सन्त अमुक निर्जन प्रदेश मे विराजमान है। उनकी आत्मदशा के दर्शनमात्र से भी सुपात्र स्वरूप जिज्ञासुओ की वृत्तियाँ स्वरूपाभिमुख हो जाती है। अत्यन्त निष्पृह और पहुँचे हुये पुरुष है वे।

यद्यपि उनका जन्म श्वेताम्बर जैन परम्परा मे ओसवाल जाति के एक धनाढ्य घराने मे हुआ, तदनुसार वे दीक्षित भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे हुये, पर अनुभव-शून्य साम्प्रदायिकता उन्हे सन्तुष्ट नही कर सकी। अतः जन्मान्तर की स्मृति के आधार पर साम्प्रदायिक-जाल से मुक्त हो वस्त्र-पात्र आदि का परित्याग करके उन्होने जंगल का रास्ता ले लिया। उस प्रदेश मे दिगम्बर-दशा से लोग घृणा करते है, अतः उनके भक्त लोगो को उनकी नग-धडग दशा अखरी, फलतः एक साहसिक भक्त ने जबकि बावा खड्गासन मे ध्यानस्थ थे, एक कोपीन उन्हे पहनादी। वे कभी एक वृक्ष के नीचे रहते है तो कभी दूसरे, कभी गिरी-कन्दरा मे तो कभी श्मशान, शुन्यागार मे उन्हे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से कोई प्रतिबन्ध नही है।

आहार-जल की आवश्यकता पड़ने पर वे आसपास की बस्तियो मे चले जाते है और एषणीय शुद्ध आहार-विधि मिलने पर पाणिपात्र से ही ठाम चौंविहार उदरपूर्त्ति करके चले जाते है। कभी-कभी दो,

दो तीन-तीन रोज एक ही आसन में समाधिष्ठ रहते हुये भी देखे गये ह। उपसर्ग परिषहो को सहने की उनमे अथाह क्षमता है।

यदि आपको एक बारगी उनके दर्शन मात्र हो जाँय तो आप उनके ही हो जॉय—ऐसा मुझे विश्वास है। वास्तव मे इस काल के वे युग-प्रधान पुरुष है। उनके सम्बन्ध में आपको अधिक क्या कहूॅ ?

उक्त बात को सुन कर और वक्ता के व्यक्तित्व को देख कर वे मुमुक्षु बन्धु प्रसन्न हुये और तीर्थयात्रा की समाप्ति करके वे उनके साथ क्रमशः मरुधर-भूमि मे आकर सन्त आनन्दघनजी के सान्निध्य मे उपस्थित हुये। बाबा की प्रशम मुद्रा और अनिमेष अन्तर्दृष्टि के दर्शन पाकर वे अतीव सुन्तुष्ट और प्रभावित हुए। बाद सविनय नमस्कार करके उनमे से एक विद्वान ने बाबा से धर्म चर्चा प्रारम्भ की।

अरनाथ स्तवन के शब्दार्थ—

स्व = अपना। पर = अन्य का। समय = सिद्धान्त। महिमावत = यशस्वी। परवडी = अनात्म भाव वाली वडी। छाहडि = छाया। नखत = नक्षत्र। दिनेश = सूर्य। कनक = स्वर्ण। परजाय = पर्याय, अवस्था। अभग = अखड, भेद रहित। चरण = चारित्र। अलख = अलक्ष, अदृश्य। निरविकल्प = विकल्प रहित, भ्रान्ति रहित, शान्त भाव। निरजन = निर्दोप, निर्मल। रजे = प्रसन्न होवे। लखि = लक्ष, साधना विन्दु। लख = लक्ष्य। दोहिलो = कठिन, दुर्लभ, दुष्कर। काइ = कुछ भी। दुविधा = सशय। गहि = पकड कर। तले = नीचे। चक्री = चक्रवर्त्ती लहै = प्राप्त करे, पावे। निरधार = निश्चय ही।

नोट—गुरुदेव के द्वारा किया विवेचन यहीं तक का है। अतः आगे के स्तवन मूल मात्र दिये जा रहे हैं। अन्तिम दो पार्श्वनाथ व महावीर स्वामी के यशोविजयजी (?) देवचदजी और ज्ञानसारजी द्वारा रचकर पूर्त्ति किए गए ६ स्तवन भी दिये जा रहे हे।

श्री मल्लि जिन स्तवन

(राग-काफी)

ढाल—सेवक किम अवगणियैहो

एह अचंभो भारी हो, मल्लिजिन एह अचंभो भारी ।

ए अब शोभा सारी हो मल्लिजिन, ए अब शोभा खारी ।।
अवर जेहने आदर अति दिये, तेहने मूल निवारी हो ।। मल्लि० ।।१।।

ग्यान सरूप अनादि तुमारुं ते लीधो तुमे ताणी ।
जूओ अज्ञान दशा रीसाणी, जातां काण न आणी हो ।। मल्लि० ।।२।।

निद्रा सुपन जागरुजागरता, तुरीय अवस्था आवी ।
निद्रा सुपन दशा रीसाणी, जाणी न नाथ मनावी हो ।। मल्लि० ।।३।।

समकित साथे सगाई कीधी, सपरिवार सूं गाढी ।
मिथ्यामति अपराधण जाणी, घर थी बाहिर काढी हो ।। मल्लि० ।।४।।

हास्य अरति रति शोक दुगंछा, भय पामर करसाली ।
नोकषाय-गज श्रेणी चढतां, श्वान तणी गत झाली हो ।। मल्लि० ।।५।।

राग द्वेष अविरतनी परिणति, ए चरण मोहना जोधा ।
वीतराग परिणति परणमतां, ऊठी नाठा बोधा हो ।। मल्लि० ।।६।।

वेदोदय कामा परिणामा काम्यकर्म सहुत्यागी काम्यक रस हू त्यागी ।
निक्कामी करुणारस सागर, अनन्त चतुष्क पद पागी हो ।। मल्लि० ।।७।।

दान विघनवारी सहु जनने, अभयदान पद दाता ।
लाभ विघन जग विघननिवारक, परम लाभ रसमाता हो ।। मल्लि० ।।८।।

वीर्य विघन पंडित वीर्य हणि, पूरण पदवी जोगी ।
भोगोपभोग दुय विघन निवारी, पूरण भोग सुभोगी हो ।। मल्लि० ।।९।।

ए अठार दूषण वरजित तनु, मुनिजन वृन्दे गाया ।
अविरति रूपक दोष निरूपण, निरदूषण मन भाया हो ।। मल्लि० ।।१०।।

इण विध परखी मन विसरामी, जिनवर गुण जे गावै ।
दीनबन्धुनी महर नजर थी, 'आनन्दघन' पद पावै हो ।। मल्लि० ।।११।।

मल्लिनाथ स्तवन के शब्दार्थ—

अवर = अन्य, दूसरे । निवारी = दूर कर दिया । ताणी = खीच कर । जुओ = देखो । रीसाणी = रुष्ट होकर, कुपित हो कर । काण = कानि, मर्यादा । तुरिया = चौथी । गाढी = मजबूत । काढी = निकाल दी । दुगछा = ग्लानि, घृणा । पामर = नीच । करसाली = तीन दाँतो वाली दन्ताली, पुरुष—स्त्री—नपुंशक वेद, कृषक । श्वान = कुत्ता । झाली = पकडी । भाया = अच्छा लगा । परखी = परीक्षा कर ।

श्री मुनिसुव्रत जिन स्तवन

(राग—काफी-आघा आम पधारो पूज्य, ए देशी)

मुनिसुव्रत जिनराज एक मुझ विनती निसुणो ।। टेक ।।

आतम तत क्यूं जाणूं जगतगुरु, एह विचार मुझ कहिये ।
आतम तत जाण्या विण निरमल, चित समाधि नवि लहिये ।। मु० ।।१।।

कोई अबंध आतम तत मानै, किरिया करतो दीसै ।
क्रिया तणो फल कोण भोगवै, इम पूछ्यां चित रीसे ।। मु० ।।२।।

जड़ चेतन ए आतम एकज, थावर जंगम सरिखो ।
सुख दुख संकर दुषण आवै, चित विचार जो परिखो ।। मु० ।।३।।

एक कहै नित्यज आतम तत, आतम दरसण लीनो ।
कृत विनास अकृतागम दूषण, नवि देखै मति हीनो ।। मु० ।।४।।

सुगत मत रागी कहै वादी, क्षणिक ए आतम जाणो ।
बंध मोख सुख दुख नवि घटै, एह विचार मन जाणो ।। मु० ।।५।।

भूत चतुष्क वरजी, आतम तत, सत्ता अलगी न घटै ।
अन्ध सकट जो नजर न देखै, तो स्यूं कीजै सकटै ।। मु० ।।६।।

इम अनेक वादी मत विभ्रम, संकट पडियो न लहै।
चित समाधि ते माटे पूछूं, तुम बिण तत कोण कहै॥ मु० ॥७॥

वलतूं जगगुरु इण परि भाखै, पक्षपात सहु छंडी।
राग-द्वेष मोहे पख वरजित, आतम सूं रढ मंडी॥ मु० ॥८॥

आतम ध्यान करै जो कोऊ, सो फिर इण में नावै।
वागजाल बीजौ सहु जाणै, एह तत्व चित चावै॥ मु० ॥९॥

जे विवेक धरि ए पख ग्रहियो, ते ततज्ञानी कहियै।
श्री मुनिसुव्रत कृपा करो तो, 'आनन्दघन' पद लहियै॥ मु० ॥१०॥

मुनिसुव्रत जिन स्तवन के शब्दार्थ—

तत=तत्व। नवि=नही। लहिये=प्राप्त करना। अबध=बध रहित, निर्लेप। दीसे=दिखाई देना। रीसे=रुष्ट—नाराज होता है। थावर=स्थावर, स्थिर रहने वाले प्राणी। जगम=चलने फिरने वाले प्राणी। सरिखो=बराबर, समान। सकर=साकर्य दोष। परिखो=परीक्षा करो। नित्यज=एकान्त, नित्य। लीनो=निमग्न। मति हीनो=बुद्धिहीन, सुगत=बुद्ध भगवान। भूत=तत्व। चतुष्क=चार तत्व—पृथ्वी, पाणी, अग्नि और वायु। वरजी=रहित। अलगी=अलग पृथक्। सकट=शकट, गाडी। ते माटे=इस कारण। वलतू=वापिसी मे, उत्तर मे। रढ=प्रीति। वाग जाल=वाणी व्यापार, बकवास। बीजो=दूसरा। सहु=सब। विवेक=परीक्षक बुद्धि।

श्री नमि जिन स्तवन

(राग—आसावरी-'धन धन सम्प्रति सांचो राजा, ए देशी)

षड् दरसण जिन अंग भणीजे, न्यास षडंग जो साधै रे।
नमि जिनवर ना चरण उपासक, षड दरसण आराधै रे ।। षड्० ।।१।।

जिन सुरपादप पाय बखाणुं, सांख्य जोग दुय भेदे रे।
आतम सत्ता विवरण करता, लहो दुग अंग अखेदे रे ।। षड्० ।।२।।

भेद अभेद सुगत मीमांसक, जिनवर दुय कर भारी रे।
लोकालोक अलंबन भजियै, गुरुगम थी अवधारी रे ।। षड्० ।।३।।

लोकायतिक कूख जिनवरनी, अस विचार जो कीजै रे।
तत्व विचार सुधारस धारा, गुरुगम विण किम पीजै रे ।।षड्० ।।४।।

जैन जिणेसर वर उत्तमअंग, अंतरंग बहिरगे रे।
अक्षर न्यास धरी आराधक, आराधै गुरुसगे रे ।।षड्० ।।५।।

जिनवरमा सगला दरसण छै, दरसण जिनवर भजनारे।
सागरमां सघली तटनी छै, तटनी सागर भजना रे ।। षड्० ।।६।।

जिन सरूप थइ जिन आराधे, ते सहि जिनवर होवे रे।
भृंगी इलिकाने चटकावै, ते भृंगी जग जोवे रे। षड्० ।।७।।

चूरणि भाष्य सूत्र निर्युक्ति, वृत्ति परम्पर अनुभव रे।
समय पुरुषनाँ अंग कह्या ए, जे छेदे, ते दुर भवरे ।। षड्० ।।८।।

मुद्रा बीज धारणा अक्षर, न्यास अरथ विनियोगे रे।
जे ध्यावै ते नवि वंचीजै, क्रिया अवंचक भोगे रे ।। षड्० ।।९।।

श्रुत अनुसार विचारी बोलूं, सुगुरु तथा विधि न मिलै रे।
किरियाकरि नविसाधी सकिये,ए विखवादचित सबलै रे ।। षड्० ।।१०।।

ते माटे ऊभा कर जोडी, जिनवर, आगल कहिये रे।
समय चरण सेवा सुधदीज्यो, जिम'आनन्दघन'लहिये रे ।। षड्० ।।११।।

नमिनाथ जिन स्तवन के शब्दार्थ—

षड् दरसण=छ दर्शन—साख्य, योग, मीमासा, बौद्ध, चार्वाक और जैन। भणीजे=कहे जाते है। न्यास=स्थापना। षडग=छ अग—दोनो जघा, दोनो बाहू, मस्तक, छाती। उपासक=उपासना करने वाले, आराधना करने वाले। सुरपादप=कल्पवृक्ष, पाय=पैर, मूल जड। वखाणू=वर्णन करू। विवरण=विवेचन। दुग=द्विक, दो, युगल, अखेदे=खेद रहित, नि सकोच। दुय=दो। कर=हाथ। अलबन=अवलब, आधार। भजिये=मानियै। अवधारी =धारण करो। लोकायतिक=चार्वाक दर्शन, वृहस्पति प्रणीत नास्तिकमत। कूख=कुक्षि, उदर। उत्तम अग=मस्तक। सुधारस=अमृतरस। सघला=सब। भजना=कही है कही नही है। तटनी=नदी। भृगी=भ्रमरी, भँवरी, कीट विशेष। ईलिका=एक प्रकार का कीडा, कीट। चटकावै=डक मारता है। जोवे रे=देखता है। दुरभव=दुर्भव्य, भटकता है, बुरी गति मे जाता है। छेदे=अमान्य करे। विखवाद=दुख। सबले=बल सहित, जबरदस्त। ते माटे=इस कारण। ऊभा=खडा हूँ। आगल=आगे, सन्मुख।

श्री नेमि जिन स्तवन

(राग—मारू-धणरा ढोला—ए देशी)

अष्ट भवांतर वालही रे, वाल्हा, तू मुझ आतमराम । मनरा वाल्हा ।
मुगति नारी सूं आपणे रे, वा० सगपण कोइ न काम ॥ मनरा० ॥१॥

घर आवो हो वालम घर आवो, म्हारी आसा रा विसराम । मनरा० ।
रथ फेरो हो साजन रथ फेरो, म्हारा मनना मनोरथ साथ ॥ मनरा० ॥२॥

नारी पखै स्यों नेहलोरें वा०, सांच कहै जगन्नाथ । मनरा० ।
ईसर अरधंगे धरी रें वा०, तू मुझ झालै न हाथ ॥ मनरा० ॥३॥

पशुजननी करुणा करी रे वा०, आणीं हृदय विचार । मनरा० ।
माणसनी करुणा नहीं रे वा०, ए कुण घर आचार ॥ मनरा० ॥४॥

प्रेम कलपतरु छेदियो रे वा०, धरियो जोग धतूर । मनरा० ।
चतुराई रो कुण कहो रे वा०, गुरु मिलियो जग सूर ॥ मनरा० ॥५॥

म्हारो तो एह मां क्यूं नही रे वा०, आप विचारो राज । मनरा० ।
राजसभा मां बैसतां रे वा०, किसडी बधसी लाज ॥ मनरा० ॥६॥

प्रेम करै जग जन सहू रे वा०, निरवाहै ते और । मनरा० ।
प्रीत करी नै छाँडि दे रे वा०, तेसूं चालै न जोर ॥ मनरा० ॥७॥

जो मनमां एहवो हतो रे वा०, निसपति करत न जाण । मनरा० ।
निसपति करिनै छांडता रे वा०, माणस हुये नुकसाण ।। मनरा० ।।८।।

देतां दान संवच्छरी रे वा०, सहु लहै वंछित पोष । मनरा० ।
सेवक वछित लहै नही रे वा०, ते सेवक रो दोष ।। मनरा ।।९।।

सखी कहै ए सामलौ रे वा०, हूं कहू लखगे सेत । मनरा० ।
इण लखणै सांची सखी रे वा०, आप विचारो हेत ।। मनरा० ।।१०।।

रागी सूं रागी सहू रे वा०, वैरागी स्यों राग । मनरा० ।
राग बिना किम दाखवो रे वा०, मुगत-सुंदरी माग ।। मनरा० ।।११।।

एक गुह्य घटतो नही रे वा०, सगलौ जाणे लोग । मनरा० ।
अनेकांतिक भोगवै रे वा०, ब्रह्मचारी गत रोग ।। मनरा० ।।१२।।

जिण जोगी तुमनै जोऊँ रे वा०, तिग जोगी जोओ राज । मनरा० ।
एक बार मुझनै जोओ रे वा०, तो सीझै मुझ काज ।। मनरा० ।।१३।।

मोह दसा धरि भावतां रे वा०, चित्त लहै तत्व विचार । मनरा० ।
वीतरागता आदरी रे वा०, प्राणनाथ निरधार ।। मनरा० ।।१४।।

सेवक पण ते आदरै रे वा०, तो रहे सेवक माम । मनरा० ।
आसय साथे चालिये रे वा०, एहिज रूड़ो काम ।। मनरा० ।।१५।।

त्रिविध जोग धर आदरयो रे वा०, नेमिनाथ भरतार । मनरा० ।
धारण पोखण तारणो रे वा०, नवरस मुगता हार ।। मनरा० ।।१६।।

कारण रूपी प्रभु भज्यो रे वा०, गिण्यो न काज अकाज । मनरा० ।
कृपा करी मुझ दीजिये रे वा०, 'आनन्दघन' पद राज ।। मनरा० ।।१७।।

श्री नेमि जिनस्तवन के शब्दार्थ—

भवान्तर=अन्य भव, पूर्व जन्म । वाल्ही=प्रिया-वल्लभा । सगपण=सगाई, सबध । पखै=विना । स्यो=कैसा । नेहलो=स्नेह । ईसर=महादेव । अरधग=आधे अग मे । झालै न=नही पकडता है । माणस नी=मनुष्य की । कलपतरु=कल्पवृक्ष । छेदियो=काट डाला । चतुराई रो=चातुर्य का । क्यू=कुछ भी । वैसता=बैठते हुए । किसडी=कैसी । वधसी=वढेगी । निरवाहै=निर्वाह करते, निभाते । निसपति=निसवत, सगाई, सम्बन्ध । पोख=पोषण । सामलो=सावला, श्याम । दोख=दोष । लखणै=लक्षण से । सेत=श्वेत, उज्ज्वल । दाखवो=बताना, कहना । माग=मार्ग । गुह्य=गुप्त । सगली=सब । अनेकान्तिक=अनेकान्त, स्याद्वाद बुद्धि । गतरोग=रोग रहित । जोणी=दृष्टि । सीझै=सिद्ध होवे । माम=धर्म, प्रतिष्ठा । रूडो=श्रेष्ठ ।

२३. श्री पार्श्व जिन स्तवन-१
(राग—सारग देशी—रसियानी)

ध्रुव पद रामी हो स्वामी माहरा, निःकामी गुणराय। सुज्ञानी।
निज गुण कामी हो पामी तुं घणो, ध्रुव आरामी हो थाय। सु० ॥१॥

सर्व व्यापी कहे सवं जाणगपणे, पर परिणमन स्वरूप। सु०।
पर रूपे करि तत्वपणु नही, स्व सत्ता चिद्रूप॥ सु० ॥२॥

ज्ञेय अनेक हो ज्ञान अनेकता, जल भाजन रवि जेम। सु०।
द्रव्य एकत्व पणे गुण एकता, निजपद रमता हो खेम॥ सु० ॥३॥

पर क्षेत्रे गत ज्ञेय ने जाणवे, पर क्षेत्रे थयु ज्ञान। सु०।
अस्ति पणुं क्षेत्रे तुमे कह्यो, निर्मलता गुणमान॥ सु० ॥४॥

ज्ञेय विनाशे हो ज्ञान विनश्वरु, काल प्रमाणे रे थाय। सु०।
स्वकाले करी स्वसत्ता सदा, ते पर रीते न जाय। सु० ॥५॥

परभावे करि परता पामता, स्व सत्ता थिर ठाण। सु०।
आतम चतुष्कमयो परमा नही, तो किम सहु नो रे जाण॥ सु० ॥६॥

अगुरुलघु निज गुण ने देखता, द्रव्य सकल देखत। सु०।
साधारण गुण नी साधर्म्यता, दर्पण जल ने दृष्टान्त॥ सु० ॥७॥

श्री पारस जिन पारस रस समो, पण इहा पारस नाहि। सु०।
पूरण रसीओ हो निजगुण परसनो, 'आनदघन' मुझ माहि। सु० ॥८॥

पार्श्वनाथ जिन स्तवन (१) के शब्दार्थ—

ध्रुव=अटल। पद=स्थान। रामी=रमण करने वाला। जाणगपणे=ज्ञातापन मे, ज्ञायक भाव से। पर परणमन=अन्य मे परिणाम करने वाले। चिद्रूप=ज्ञान रूप। खेम=क्षेम, आनद। विनश्वरु=नाशमान। आतमचतुष्कमयी=अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य रूप। समो=समान, बराबर। परसनो=स्पर्श का।

श्री पार्श्वनाथ जिन स्तवन-२

(राग—शांति जिन एक मुझ वीनती)

पास जिन ताहरा रूप नुं, मुज प्रतिभास किम होय रे।
तुझ मुझ सत्ता एकता, अचल विमल अकल जोय रे॥ पास० ॥१॥

तुझ प्रवचन वचन पक्ष थी, निश्चय भेद न कोय रे।
व्यवहारे लखि देखिए, भेद प्रतिभेद वहु लोय रे॥ पास० ॥२॥

बंधन मोक्ष नहि निश्चये, व्यवहारे भज दोय रे।
अखंड अनादि अविचल कदा, नित्य अबाधित सोय रे॥ पास० ॥३॥

अन्वय हेतु वितरेक थी, आंतरो तुझ मुझ रूप रे।
अंतर मेटवा कारणे, आतम स्वरूप अनूप रे॥ पास० ॥४॥

आतमता परमातमता, शुद्ध नय भेद न एक रे।
अवर आरोपित धर्म छे, तेहना भेद अनेक रे॥ पास० ॥५॥

धरमी धरम थी एकता, तेह मुझ रूप अभेद रे।
एक सत्ता लख एकता, कहे ते मूढमति खेद रे॥ पास० ॥६॥

आतम धर्म ने अनुसरी, रमे जे आतम राम रे।
'आनंदघन' पदवी लहे, परम आतम तस नाम रे॥ पास० ॥७॥

---

२ पास = पार्श्वनाथ भगवान। ताहरा = तुम्हारे। प्रतिभास = प्रकर्ष आभास, साक्षात्कार। अकल = निराकार, अकलनीय। विवहारे = व्यवहारे, व्यवहारनय। लोय = जीवलोक मे। मोख = मोक्ष। अबाधित = बाधारहित। वितरक = व्यतिरेक, भेद, अन्तर, व्यतिरेक हेतु। आंतरो = अन्तर। अवर = अन्य, दूसरे। तेहना = उसके। तस = उसका।

श्री पार्श्व जिन स्तवन-३

(स्वामी सीमधरा वीनती—ए राग)

प्रणमु पद पकज पार्श्व ना, जस वासना अगम अनूप रे।
मोह्यो मन मधुकर जेह थी, पामे निज शुद्ध स्वरूप रे ॥१॥

पक कल्क शका नही, नही खेदादिक दुख दोष रे।
त्रिविध अवचक योग थी, लहे अध्यातम सुख पोष रे ॥२॥

दुर्दशा दूरे टले, भजे मुदिता मैत्री भाव रे।
वरतै निज चित्त मध्यस्थता, करुणामय शुद्ध स्वभाव रे ॥३॥

निज स्वभाव स्थिर कर धरे, न करे पुद्गलनी खेच रे।
साक्षी हुई वरते सदा, न कदा परभाव प्रपच रे ॥४॥

सहज दशा निश्चय जगे, उत्तम अनुपम रस रग रे।
राचे नही परभाव सुं, निज भाव सु रग अभग रे ॥५॥

निज गुण सब निज मे लखे, न चखे परगुण नी रेख रे।
क्षीर नीर विवरो करे; ए अनुभव हस सु पेख रे ॥६॥

निर्विकल्प ध्येय अनुभवे, अनुभव अनुभवनी प्रीत रे।
और न कबहुँ लखी शके, 'आनदघन' प्रीत प्रतीत रे ॥७॥

---

३ पदपकज,=चरणकमल। जस=जिसकी। वामना=सुगध। अगम=अगम्य है। अनूप=अनूठी है। मन-मधुकर=मनरूपी भँवरा। पक=कीचड। दुरदशा=बुरीअवस्था, मिथ्यात्व। मुदिता=प्रसन्नता। खच=खीचातानी। राचे=घुलमिल जाना, मस्त होना विवरो करै=निर्णय करना। पेख=देखना। प्रतीत=विश्वास।

२४. श्री महावीर जिन स्तवन-१

(राग—धन्याश्री)

वीर जिनेश्वर चरणे लागूं, वीर पणूं ते मागूं रे।
मिथ्या मोह तिमिर भय भाग्यूं, जीत नगारुं वाग्यूं रे ।। वीर० ।।१।।

छउमत्थ वीर्य लेश्या संगे, अभिसंधिज मति अंगे रे।
सूछम थूल क्रिया ने रंगे, योगी थयो उमंगे रे।। वीर० ।।२।।

असंख्य प्रदेशे वीर्य असंखे, योग असंखित कंखे रे।
पुद्गल गण तिणे ल्ये सु विशेष, यथाशक्ति मति लेखे रे ।। वीर० ।।३।।

उत्कृष्टे वीर्य निवेशे, जोग क्रिया नवि पेसे रे।
जोग तणी ध्रुवता ने लेसे, आतम शक्ति न खेसे रे।। वीर० ।।४।।

काम वीर्य वशे जिम भोगी, तिम आतम थयो भोगी रे।
शूरपणे आतम उपयोगी, थाइ तेह अयोगी रे।। वीर० ।।५।।

वीरपणु ते आतम ठाणे, जाण्यु तुमची वाणे रे।
ध्यान विन्नाणे शक्ति प्रमाणे, निज ध्रुवपद पहिचाणे रे ।। वीर० ।। ६।।

आलंबन साधन जे त्यागे, पर परिणति ने भागे रे।
अक्षय दर्शन ज्ञान विरागे, 'आनंदघन' प्रभु जागे रे।। वीर० ।।७।।

महावीर जिन स्तवन के शब्दार्थ—

१ तिमिर=अंधकार। भाग्यू=भग गया, दूर हो गया। वाग्यू=बज रहा है। छउमत्थ=छद्मस्थ। अभिसंधिज=आतम शुद्धि की अभिलाषा, योगाभिजनित, विशेष प्रयत्न से उत्पन्न। सूछम=सूक्ष्म। थूल=स्थूल। कंखे=कांक्षा, अभिलाषा करते है। पेसे=प्रवेश करती है। खेसे=स्खलित होती है, डिगती हैं, खिसकती है। विन्नाणे=विज्ञान। तुमची=आपकी। विरागे=वैराग्य।

श्री महावीर जिन स्तवन-२

(अभिनंदन जिन दरिसण तरसीए—ए राग)

वीर जिनेसर परमेश्वर जयो, जगजीवन जिन भूप।
अनुभव मित्ते रे चित्ते हित धरी, दाख्युं तास स्वरूप ॥१॥

जेह अगोचर मानस वचन ने, तेह अतीद्रिय रूप।
अनुभव मित्ते रे व्यक्ति शक्ति सुं, भाख्यु तास स्वरूप ॥२॥

नय निक्षेपे रे जेह न जाणिये, नवि जिहा प्रसरे प्रमाण।
शुद्ध स्वरूपे रे ते ब्रह्म दाखवे, केवल अनुभव भाण ॥३॥

अलख अगोचर अनुभव अर्थ नो, कोण कहि जाणे रे भेद।
सहज विशुद्धये रे अनुभव वयण जे, शास्त्र ते सगला रे खेद ॥४॥

दिशि देखाडी रे शाख सवि रहे, न लहे अगोचर बात।
कारज साधक बाधक रहित जे, अनुभव मित्त विख्यात ॥५॥

अहो चतुराई रे अनुभव मित्तनी, अहो तस प्रीत प्रतीत।
अतरजामी स्वामी समीप ते, राखी मित्र सुं रीत ॥६॥

अनुभव सगे रे रंगे प्रभु मिल्या, सफल फल्या सवि काज।
निज पद संपद जे ते अनुभवे, 'आनदधन' महाराज ॥७॥

---

२ दाख्यु = कहा गया है। तास = उसका। जेह = जो। अगोचर = नही देखा जा सके। तेह = उनका। व्यकित = व्यक्त किया हुआ, बताया हुआ। भाख्युं = कहा गया। भाण = सूरज। सघला = सभी। समीप = पास, निकट। देखाडी = दिखलाई। मित्त = मित्र। फल्या = फलित हुए। सवि = सर्व।

श्री महावीर जिन स्तवन-३

(पंथड़ो निहालूं रे बीजा जिन तणो रे, ए देशी)

चरम जिनेश्वर विगत स्वरूप नूं रे, भावूं केम स्वरूप ?
साकारी विण ध्यान न संभवे रे, ए अविकार अरूप ॥१॥

आप सरूपे आतम मा रमे रे, तेहना धुर बे भेद।
असख उक्कोसे साकारी पदे रे, निराकारी निर्भेद ॥२॥

सुखम नाम करम निराकार जे रे, तेह भेदे नहि अत।
निराकार जे निरगति कर्म थी रे, तेह अभेद अनत ॥३॥

रूप नहि कइए बधन घट्युं रे, बधन मोख न कोय।
बध मोख विण सादि अनतनु रे, भग सग किम होय ? ॥४॥

द्रव्य बिना जिम सत्ता नवि लहे रे, सत्ता विण स्यो रूप।
रूप बिना किम सिद्ध अनततारे, भावुं अकल स्वरूप ॥५॥

आतमता परिणतिजे परिणम्या रे, ते मुझ भेदाभेद।
तदाकार विण मारा रूपनुं रे, ध्यावुं विधि प्रतिषेध ॥६॥

अतिम भव ग्रहणे तुझ भावनुं रे, भावस्युं शुद्ध स्वरूप।
तइये 'आनदघन' पद पामस्यु रे, आतम रूप अनूप ॥७॥

---

३ चरम = अतिम। विगत = बीता हुआ। साकारी = आकार वाला। अविकार = विकार रहित। धुर = प्रथम। बे = दो। उक्कोसे = उत्कृष्ट। निरभेद = भेद रहित। सूखम = सूक्ष्म। निरगत = निर्गति। स्यो = कैसा। तइयें = तब।

ॐ

श्री सहजानंदघन कृत

चैत्य-वंदन चौवीसी

सं० २००४ चैत्री विक्रम
मोकलसर गुफा

१ ऋषभ जिन चैत्यवंदन

सिद्ध-ऋद्ध प्रगटाववा, प्रणमुं आदि-जिणंद ;
अशुद्ध योगो-त्रय तजी, प्रशस्त-राग अमद ···१

केवल अध्यातम थकी, तप जप किरिया सर्व ;
भवोपाधि भ्रम नवि टले, वधे शुष्कता गर्व ··२

कारण-कर्त्तारोप थी, पराभक्ति प्रगटाय ;
दोष टले दृष्टि खुले, सहजानदघन थाय ··३

२ अजित जिन चैत्यवंदन

अजित शत्रु-गण जीतवा, **अजितनाथ प्रतीत** ;
विलोकुं तुझ पथ प्रभो !, यूथ-भ्रष्ट मृग-रीत ···१

अध परपर चर्म-दृग्, आगम-तर्क-विचार ;
तजी भाव-योगी भजत, प्रगट बोध निरधार ···२

तीर्थङ्करने सत मा, ध्येये भेद न कोय ;
सत्पुरुषार्थे सेवता, सहजानदघन होय· ·३

३ संभव जिन चैत्यवंदन

स्व-स्वरूप प्रगटाववा, सेवुं संभव देव ;
सतत रोमाचित थिर-मने, सत्पुरुषारथ टेव···१

सदा सुसताधीन करी, कार्य देह-मन-वाक् ;
सेवन थी सहेजे सधे, भवस्थिति नो परिपाक···२

ध्येये ध्यान एकत्त्वता, बीजी आश निराश ,
असभव रही सभवे, सहजानंदघन वास···३

४ अभिनंदन जिन चैत्यवंदन

लहुँ केम स्याद्वाद मय, अनेकान्त शिव-शर्म ;
स्वानुभूति कारण परम, अभिनंदन तुझ धर्म · १

नय-आगम-मत-हेतु-विख,-वाद थकी नवि गम्य ,
अनुभव सत-हृदय वसे, तास सुवास सुगम्य २

असत-निश्रा भ्रान्तिदा, टाली सकल स्वच्छद ,
सत कृपाए पामिए, सहजानंदघन कद · ३

५ सुमति जिन चैत्यवंदन

आतम अर्पणता करूं, सुमति चरण अविकार ;
वामादिक गुरु-अर्पणा, धर्म-मूढता धार···१

इन्द्रिय नोइन्द्रिय थकी, पर-उपयोग प्रसार ;
प्रत्याहारी स्थिर करो, संत-स्वरूप विचार····२

आत्मार्पण सद्‌उपाय छे, सहजानदघन पक्ष,
सहज-आत्म स्वरूप ए, परम गुरु थी प्रत्यक्ष····३

६ पद्मप्रभ जिन चैत्यवंदन

सत्ताए सम ते छता, तुझ मुझ अतर केम ;
अहो **पद्मप्रभु** ! कहो, स्हेजे समजु तेम …१

व्यतिरेक-कारण गही, तूं भूल्यो निज भान ,
अन्वय-कारण सेवता, प्रगटे सहज निधान…२

अन्वय-हेतु ज्या प्रगट, ते सताधिन सेव ,
अनहद ज्योति जगमगे, सहजानदघन देव….३

७ सुपार्श्व जिन चैत्यवंदन

सहज सुखी नी सेवना, अवर सेव दुःख हेत ;
घन - नामी सत्ता अहो ! **सुपारस** सकेत…१

पारस मणिना फरस थी, लोहा कचन होय ;
पण पारसता नहिं लहे, सत-मणि न सम दोय…२

सुपारस प्रभु सेवथी, सेवक सेव्य समान ,
अनुभव गम्य करी लहो, सहजानदघन थान…३

८ चंद्रप्रभ जिन चैत्यवंदन

सुण अलि शुद्ध चेतने ! चद्र-वदन जिन-**चन्द्र** ;
तुं सेवे सर्वांगता, निशि-दिन सौख्य अमद…१

कालअनादिय मूढ-मति, पर-परिणति-रति लीन ,
सत-प्रभुनी सेवना, न लही सुदृष्टि-हीन ..२

सखि ! कृपा करी प्रभु तणा, कराव दर्शन आज ,
योगावचक करणीए, सहजानदघन राज ..३

९ सुविधि जिन चैत्यवंदन

उभय शुचि भावे भजी, पूजत सुविधि जिनेश ,
प्रसन्न-चित्त आणा सहित, स्व - स्वरूप प्रवेश…१

अंग-अग्र अे निमित्त छे, उपादान छे भाव ,
प्रतिपत्ति-पूजा तिहा, प्रगटे शुद्ध स्वभाव…२

शुद्ध स्वभावी सतनी, सेव थकी लहो मर्म ,
स्वरूप सेवन थी लहो, सहजानदघन धर्म…३

१० शीतल जिन चैत्यवंदन

भासे विरोधाभास पण, अविरोधी गुण-वृन्द ,
शीतल हृदये ध्यावतां, नाशे भव भ्रम फंद ··१

स्वरूप रक्षण कारणे कोमल तीक्षण भाव ;
उदासीन पर-द्रव्य थी, रहिए आप स्वभाव ··२

स्वानुभूति अभ्यास ना, अनन्य कारण सन्त ;
सहजानंदघन प्रभु भजो, करो भवोदधि अत · ३

११ श्रेयांस जिन चैत्यवंदन

भाव अध्यातम पथमयी, श्रेयांस सेवा धार ;
हठयोगादिक परिहरी, सहज भक्ति-पथ सार….१

देह-आत्म-क्रिया उभय, भिन्न म्यान असि जेम ,
जड़ किरिया अभिमान तज, सवर किरिया प्रेम….२

ज्ञानादि गुण वृन्द पिंड, सोह अजपा जाप ,
सत कृपा थी पामिए, सहजानदघन आप….३

१२ वासुपूज्य जिन चैत्यवंदन

वासुपूज्य-जिन सेवना, ज्ञान-करम फल काज ,
करम करम-फल नाशिनी, सेवो भवोदधि पाज…१

निज पर शुद्धि कारणे, भजिए भेद विज्ञान ,
निज-निज परिणति परिणम्ये, प्रगटे केवलज्ञान २

स्वरूपाचरणी सत छे, भाव लिंग विश्राम ,
भेद ज्ञान पुरुपार्थ अे, सहजानदघन ठाम…३

१३ विमल जिन चैत्यवंदन

झगमग ज्योति विमल प्रभु, चढी अलोके आज ;
हृदय नयण निरख्या अहो ! भाग्यो विरह समाज ·१

दिव्य-ध्वनि अनहद सुणी, अति नाचत मन मोर ,
सुधा-वृष्टि पाने छक्यो, करत पपैयो शोर· ·२

उछलत सुख सायर तरल, लीन थयो मन-मीन ,
सत-कृपा सहजे सध्यो, सहजानदघन पीन…३

१४ अनंत जिन चैत्यवंदन

अनंत चारित्र-सेवना, आतम वीर्य-थिर रूप ;
टके न ज्या सुरराय के, भेख धारी नटभूप…१

मत-मठधारी लिंगिया, तप जप खप एकान्त ,
गच्छधर जैनाभास पण, पर रगी चित्त-भ्रान्त ·२

टक्या सन्त कोई शूरमा, तास सेव धरी नेह ,
अनेकान्त एकान्त थी, सहजानदघन रेह…३

१५ धर्मनाथ जिन चैत्यवंदन

धर्म-मर्म जिन धर्म नो, विशुद्ध द्रव्य स्वभाव ;
स्वानुभूति वण साधना, सकल अशुद्ध विभाव ...१

तप जप संयम खप थकी, कोटि जन्मो जाय ;
ज्ञानाञ्जन अजित नयन, वण नवि ते परखाय ...२

दिव्य नयनधर सन्तनी, कृपा लहे जो कोइ,
तो सहेजे कारज सधे, सहजानदघन सोई ...३

१६ शान्तिनाथ जिन चैत्यवंदन

सेवो शांति जिणद भवि, शान्त-सुधारस धाम ,
अवर रसे आधीन जे, तेथी सरे न काम ...१

शान्त भाव वण ना लहे, शुद्ध स्वरूप निवास ,
लवण-महासागर जले, कदी न बूझे प्यास ...२

तेथी शाति-स्वरूप नो, सतत करो अभ्यास ,
सहजानंदघन उल्लसे, सन्ताश्रयणे खास ...३

१७ कुन्थु जिन चैत्यवंदन

कुन्थु-प्रभु ! मुझने कहो, मन वश करण उपाय ,
जे वण शुभ करणी सही, तुस खडन सम थाय ...१

अजपा जाप आहार दई, सास दोरड़े बाध ;
निश दिन सोवत जागते, एज लक्षने साध ...२

अथवा सताधीन था, अवर न कोई इलाज ;
गुरुगम सेवत पामिये, सहजानदघन राज ...३

१८ अरनाथ जिन चैत्यवंदन

उभय नय अभ्यासी ने, द्रव्य-दृष्टि धरी लक्ष ;
तदनुकूल पर्यय करी, अर-प्रभु धर्म प्रत्यक्ष···१

भेद-दृष्टि व्यवहारी ने, थइ अभेद निज द्रव्य ;
निर्विकल्प उपयोग थी, परमधर्म लहो भव्य ··२

परम धर्म छे ज्या प्रगट, सद्गुरु सत नी सेव ,
सहजानंदघन पामवा, पुष्टालम्बन देव ··३

१९ मल्लिनाथ जिन चैत्यवंदन

घाती-घातक मल्लि-जिन, दोष अढार विहीन ;
अवर सदोषी परिहरी, थाओ जिन-गुण लीन···१

जिन-गुण निज-गुण एकता, जिनसेव्ये निज-सेव ,
प्रगट गुणी सेवन थकी, प्रगटे आतम देव···२

दोषी अदोषी परखिए, सताश्रय धरी नेह ;
तो सहेजे निपजाविअे, सहजानदघन गेह···३

२० मुनिसुव्रत जिन चैत्यवंदन

आतम धर्म जणाय छे, मुनिसुव्रत जिन ध्याइ ,
बीजा मत दर्शन घणा, पण त्यां तत्व न भाइ···१

सत्सगी रगी थई, धरिये आतम-ध्यान ,
सत्-श्रद्धा लयलीन थई, तो प्रगटे सद्-ज्ञान···२

दृग्-ज्ञाने निज रूप माँ, रमतो आतम राम ;
रत्नत्रयी नी एकता, सहजानदघन स्वाम····३

२१ नमिनाथ जिन चैत्यवंदन

कुल धर्मे नास्तिक थई; सत् समझ अनेकान्त ;
चिद्-जड़-सत्ता नियत छे, सांख्य-योग सिद्धांत · १

अथिर-पर्यय द्रव्य-थिर, नियत सुगत-वेदान्त ,
लोक-प्रपच तजी भजो, अलोक आत्म अभ्रान्त····२

नमि जिनवर उत्तमाग मां, षट् दर्शन पद-द्रव्य ,
गुरुगम थी आस्तिक बने, सहजानदघन भव्य· ·३

२२ नेमिनाथ जिन चैत्यवंदन

वीतरागता पामवा, नेमि-चरण सुविचार ,
राग ॠणे-जाने चढया, पछी चढया गिरनार ···१

एक बार रागे बध्या, छूटे विरला कोय ,
माटे राग न कीजिए, वीतराग वण लोय· २

काम-स्नेह-दग्-राग-क्षय, भगवद्-भक्ति पसाय ,
सहजानदघन दम्पति, सति-पति प्रणमुं पाय ३

२३ पार्श्वनाथ जिन चैत्यवंदन

चेतन चेतना फर्सता, पूर्ण ध्रुव तद्रूप ,
चिद्घन मूर्ति पार्श्व-प्रभु, केवल ज्ञान स्वरूप · १

जगतज्ञान सर्वज्ञता, ते सर्वावधि ज्ञान ,
तदतिक्रान्त केवल दशा, ए परमार्थ विज्ञान·· २

ए केवल अवलवने, प्रगटे स्वरूप ज्ञान ,
सत कृपाए विरल ने, सहजानदघन भान ·· ३

२४ वीर जिन चैत्यवंदन

आत्म प्रदेश ने स्थिर करे, ते अभिसधि-वीय ,
कषाय वश थी वीय ते, अनभिसधि अस्थैर्य···१

अभिसधि बल फोरव्ये, वीर पणु मन-मौन ;
उदय अव्यापकतन-वचन, क्रिया थाय ज्या गौण····२

साढा बार वरस लगी, वीर पणे विचरत ;
वदु श्रीमहावीर ने, सहजानंदघन सत····३

कलश

निज अलख गुण लखवा भणी, धरी लक्ष तजी सहु पक्षने ;
गिरिकन्दरा **मोकल** चोमासे, साधवा मन अक्ष ने ;
आनंदघन चौवीसी[1] लक्षे, चैत्यवदन ए स्तव्या ;
गति-नभ-ख-वधन(२००४) विक्रमे, शुद्ध सहजानदपदठव्या १

१—आनदघनजी की चौवीसी पर्याप्त प्रसिद्ध और भावपूर्ण रचना है। उसके योग्य चैत्यवन्दनो की कमी अनुभव कर आपने उन्ही भावो को लेकर यहचैत्यवन्दन चौवीसी स० २००४ मे गुम्फित की है।

वर्तमान चतुर्विंशति जिन स्तुतयः

ता० २४-११-६०

ऋषभ जिन स्तुति १

प्रीति अनुष्ठाने प्रेम ऋषभ - पद जोड़ी
प्रभु-छवि चित्त झलक्ये पराभक्ति पथ दोडी ,
प्रभु - आज्ञा तत्पर दृष्टि मोह गढ तोड़ी,
जीत क्षोभ असगे सहजानद रग रोळी , ॥१॥

अजित जिन स्तुति २

दिशि पूर्व अजीत-पथ चित्प्रकाश-उद्योत,
दृग - दृश्य विछोड़ी जोड़ी द्रष्टा - पोत ,
जगी अतः ज्योति त्या दृष्टि-अयता-मोत,
लगी ज्ञान निष्ठा ज्या सहजानदघन स्रोत , ॥२॥

संभव जिन स्तुति ३

परिग्रह - मूर्च्छा त्या भय वली दभाचार,
सताज्ञा - अवज्ञा सन्मारग तिरस्कार ,
टले अपात्रता ए अनत कपाय प्रकार,
सभव प्रभु शरणे सहजानदघन सार , ॥३॥

अभिनंदन स्तुति ४

थइ सत कृपा ज्या अभिनदन श्रुति - घोध,
जागे सुमति त्या प्रगटे चिद-जड़-त्रोध ,
ध्येय-ध्यान एकता रूप ध्याति अविरोध,
खुले दृष्टि दर्शन सहजानदघन शोध , ॥४॥

सुमति जिन स्तुति ५

ज्ञायक-सत्ता हुँ सुमति - प्रभु-पद - बीज,
अर्पित उपयोगे अन्तरात्म - रस - रीझ ;
छूटे जड़ - सत्ता - मोह रीझ ने खीज,
बीज वृक्ष न्यायवत् सहजानदघन सीझ , ।।५।।

पद्मप्रभ जिन स्तुति ६

सग युंजन करणे चित् - प्रकाश - त्रिकर्म,
गुणकरणे शमावी ज्योति-ज्योत स्वधर्म ;
जल-पकथी न्यारा पद्मप्रभु गत-भर्म,
निज-जिन पद एकज सहजानंदघन मर्म ।।६।।

सुपार्श्व जिन स्तुति ७

नभ-रूप-विविधता ज्या लगी पर्यय-दृष्टि,
पण द्रव्य दृष्टिए अेक अखंड समष्टि ,
प्रभुता अवलब्ये प्रगटे निज गुण सृष्टि,
सुपार्श्व शरण थी सहजानदघन वृष्टि , ।।७।।

चंद्रप्रभ जिन स्तुति ८

सत्सग - सुपात्रे योग - अवचक नेक,
स्वरूपानुसधाने क्रिया अवंचक टेक ,
मोह-क्षोभ विनाशे अवचक फल एक,
प्रभु-चद्र प्रकाशे सहजानद विवेक , ।।८।।

सुविधिजिन स्तुति ९

जिन-मदिर-तनमदिर अनुभव - सकेत,
अनहद अमृतरस ज्योति आदि समवेत ;
अष्ट द्रव्य मिसे अे अनुभव-क्रम अभिप्रेत,
सुविधि - प्रभु पूजत सहजानदघन लेत , ।।९।।

शीतलजिन स्तुति १०

नय भंग निक्षेपे करीअे तत्त्व विचार,
त्यां अस्ति नास्ति अवक्तव्य आदि प्रकार ;
अविरोध सिद्धि ए स्याद्वाद-चमत्कार,
शीतल सिद्धान्ते सहजानदघन सार , ॥१०॥

श्रेयांसजिन स्तुति ११

कर्त्तृत्वाभिमाने कर्म शुभाशुभ-बंध,
सधे ज्ञप्ति क्रिया थी बोधी-समाधि अबंध ,
कर्त्ता न कदापि चेतन पर जड़-धंध,
श्रेयांस-बोध ए सहजानद सुगंध , ॥११॥

वासुपूज्यजिन स्तुति १२

कर्त्तापद-सिद्धि व्याप्य-व्यापक न्याये,
तत्स्वरूप न जुदा कर्त्ता-कर्म-क्रिया ए ,
परिणति परिणामी परिणाम एक ध्याये,
सहजानद-रस प्रभु-वासुपूज्य गुण न्हाये ॥१२॥

विमलजिन स्तुति १३

सजीवन मूर्ति करी माथे समर्थ नाथ,
पछी शत्रुदल थी करीए बाथम्बाथ ,
प्रभु विमल कृपा थी विजयलक्ष्मी करी हाथ,
त्यां सहजानदघन थाय त्रिलोकीनाथ , ॥१३॥

अनंतजिन स्तुति १४

करी विविध क्रिया ज्या आश्रवबंध प्रकार,
तोय माने हुं साधु समिति गुप्ति व्रत धार ,
निज लक्ष-प्रतीति-स्थिरता नहिं तिलभार
केम पामे अनत-प्रभु सहजानंद पद सार····॥१४॥

धर्मजिन स्तुति १५

दृग्-स्नेह-कामवश दूषित प्रेम-प्रवाह,
प्रत्याहारी प्रभु धर्म-पदे शुद्ध राह :
चित्त कमले ध्यावो प्रभु छवि धरी उत्साह,
खूले परम खजानो सहजानंद अथाह ; ॥१५॥

शान्तिजिन स्तुति १६

परिस्थिति वश जे-जे उठे चित्त-तरंग,
ते भिन्न तुं भिन्न अतः क्षुभित न हो अंतरंग ;
ठरो शान्त रसे तो प्रगटे अनुभव-गंग
प्रभु शाति पसाये सहजानद अभग , ॥१६॥

कुन्थुजिन स्तुति १७

अररर ! भ्रम-भ्रम !! छी !!! जड़ मन नों शो दोष ?
चेतन निज भूले करे रोष ने तोष ,
शुद्ध भाव रमे जो मन विलीन निज-कोष,
प्रभु कुंथु कृपा थी सहजानद रस पोष , ।१७॥

अरजिन स्तुति १८

सम् अयति-द्रव्य सौ अने चेतन निरधार,
चित्त त्रिविध कर्म स्थित ते परसमय विकार ;
ज्ञायक सत्ता स्थिति चेतन स्व समय सार,
अर धर्म-मर्म अे सहजानद अविकार ; ॥१८॥

मल्लिजिन स्तुति १९

चिद्-जड़ अभान त्या सुषुप्त-चेतन अध,
केवल जड़ भाने स्वप्न सृष्टि सम्बन्ध ;
निज-पर विज्ञाने जाग्रत भेदक संघ,
प्रभु मल्लि उजागर केवल ज्ञानानद , ॥१९॥

मुनिसुव्रत स्तुति २०

भिन्न-भिन्न मत दर्शन एक एक नयवाद,
निरपेक्ष दृष्टिए वध्यो धर्म-विखवाद,
टाले मुनिसुव्रत समन्वय स्याद्वाद,
सापेक्ष दृष्टि ए सहजानंद रस स्वाद, ॥२०॥

नमिनाथजिन स्तुति २१

नमिनाथ प्रभु-पद सांख्य-योग बे ख्यात,
वली बौद्ध वेदान्ती कर स्थाने करे बात,
निज प्रतीति पूर्व चार्वाक् हृदय-उत्पात,
शिर - जैन प्रतापे सहजानंद सुहात ॥२१॥

नेमिजिन स्तुति २२

रागी रीझे पण केम रीझे वीतराग ?
एकांगी निष्प्रभ विनशे साधक-राग,
नेमनाथ आलबी राजुल थाय विराग,
नमुं सहजानदघन ते दम्पती महाभाग ॥२२॥

पार्श्वजिन स्तुति २३

षड् गुण-हानि वृद्धि प्रति द्रव्य मा थाय,
तोय न्यूनाधिक ना अगुरुलघु गुण स्हाय;
छे नित्य द्रव्य पण ज्ञेय निष्ठा दुःखदाय,
प्रभु पार्श्व-निष्ठा तोय सहजानद उपाय, ॥२३॥

वीरजिन स्तुति २४

दर्शन ज्ञानादिक जे - जे गुण चिद्रूप,
प्रति गुण-प्रवर्त्तना वीर्य स्हायक रूप,
तजी पर-परिणति सौ गुण शमाव्या स्वरूप,
नमुं सहजानद प्रभु महावीर जिनभूप ॥२४॥

शुद्धा शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
xxi	१४	ज्ञानसागरजी	ज्ञानसारजी
xiii	१०	वाते	वाले
xiv	४	घूजोते	घूजते
xv	१६	फो	को
१७	८	हे का दर्शन	हे
१८	२४	प्रप्ति	प्राप्ति
३२	८	होसे से	होने से
४७	२१	प्रर्वक	पूर्वक
५८	१	प्रवार	प्रवाह
६०	७	नजि	निज
७०	१३	अनियमत	अनियमित
८७	८	योगियो	भोगियो
८७	१८	प्रयोजन हेतु	प्रयोजन रूप
९१	१२	वहिमुंक	वहिर्मुख
९२	१८	अणुव्रत	गुणव्रत
११५	१७	सम्वन्ध से मुक्त हैं	(पक्ति के प्रारभ मे न रह कर अत मे रहेगी)
११५	२१	प्रतिष्ठा	प्रतिष्ठ
१२५	२६	पक्ति के प्रारभ मे छूटा	सम्बन्धित होते ही
१२७	६	अपार	अफर
११६	१९	प्रयोग	प्रयोग से ही हुआ करता हैं
१३३	२१	नब	तब
१३६	६	लो	तो